श्रीमन्महर्षिपिङ्गलाचार्यविरचितं

पिङ्गलच्छन्दःसूत्रम् ।

[वैदिकच्छन्दःप्रकरणान्तम्]

टीकाकारः—

श्रीवेणीरामशर्मा गौडः

(वेदाचार्यः)

'मास्टर' मणिमालाया। १५८ संख्यको मणिः (छन्दोविभागे १)

॥ श्रीः ॥

श्रीमन्महर्षिपिङ्गलाचार्यविरचितं

पिङ्गलच्छन्दःसूत्रम् ।

[वैदिकच्छन्दःप्रकरणम्]

श्रीमन्महामहोपाध्याय–वेदावतार–याज्ञिकमूर्द्धन्य–पण्डितप्रवर
श्रीविद्याधरशास्त्रिपुत्रेण काशीस्थ श्री जी० म० गोयनका–
संस्कृत–महाविद्यालयाध्यापकेन वेदाचार्य, काव्यतीर्थ-
प्रभृत्यनेकोपाधिभाजा **श्रीवेणीरामशर्मगौडेन**
स्वकीयप्रेमानुभूतिटीकया समुपयुक्तभूमिका-
टिप्पण्यादिभिश्च संयोज्य संस्कृतम् ।

तच्च–

"मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स" महोदयैः
'मास्टर प्रिंटिङ्ग वर्क्स'नाम्नि मुद्रणागारे मुद्रापयित्वा
प्रकाशितम् ।

प्रथमं संस्करणम्] मूल्यं दशाणकाः [सन् १९४२

भूमिका

समस्त शास्त्रों का सिद्धान्त है कि—द्विजाति को वेद-वेदाङ्ग का अध्ययन अवश्य करना चाहिये। क्योंकि वेदाध्ययन के बगैर उन्हें सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म का भी अधिकार नहीं रहता है। अतः द्विजमात्र का प्रधान कर्तव्य है कि वे अवश्यमेव साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन करें। साथ ही यह भी निश्चित है कि—छन्दोज्ञान के बगैर वैदिक मन्त्रों के वास्तविक अर्थ का भी परिज्ञान नहीं हो सकता। जैसे—'अनुष्टुभा ऋचा यजति, बृहत्या ऋचा गायति, गायत्र्या ऋचा स्तौति' इत्यादि वाक्यों के श्रवणमात्र से 'अनुष्टुप्' प्रभृति छन्दों का ज्ञान कथमपि नहीं हो सकता। जिस प्रकार पैर के बिना मनुष्य की दुरवस्था होती है उसी प्रकार छन्दोज्ञान के बगैर वेद के पठन-पाठन करने वालों की भी क्लेश-ग्रन्थि बढ़ती ही जाती है। महर्षि पाणिनि ने अपनी शिक्षा में छन्द को वेद का 'पैर' बतलाया है—'छन्दः पादौ तु वेदस्य।' इतना ही नहीं, छन्दोज्ञान के बिना वेद के अध्ययनाध्यापन में भी शास्त्रज्ञों ने प्रत्यवाय कहा है। देखिये, श्रुति क्या कहती है—

'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतविनियोगेन ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स स्थाणुं वर्च्छति गर्त्तं वा पद्यते, प्रमीयते वा पापीयान् भवति, यातयामान्यस्य च्छन्दांसि भवन्ति।' (छ० ब्रा० ३।७।५)

महर्षि कात्यायन ने भी कहा है—

'छन्दांसि गायत्र्यादीनि एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति। अथान्तरा

भ्गर्त्तं वा पद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति ।' (सर्वानुक्रमसूत्र)

बृहद्देवता (८।१३२) में भी स्पष्ट कहा है—

"अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च ।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः ॥"

इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा गया है—

"मन्त्राणां दैवतं छन्दो निरुक्तं ब्राह्मणान् ऋषीन् ।
कृत्तद्धितादींश्चाज्ञात्वा यजन्तो यागकण्टकाः ॥
अविदित्वा ऋषिच्छन्दोदैवतं योगमेव च ।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते तु सः ॥
ऋषिच्छन्दोदैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि ।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते ॥"

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध हुआ कि वैदिकों के लिये छन्द-ज्ञान परमावश्यक है ।

छन्द-विचार ।

छन्द दो प्रकार के होते हैं—वैदिक और लौकिक । इनमें वैदिक छन्दों का उपयोग केवल वैदिक-साहित्य में होता है और लौकिक छन्दों उपयोग वेदातिरिक्त लोकसाहित्य में अर्थात् काव्य-पुराणादि ग्रन्थों में होता है ।

वर्ण-विचार ।

वर्ण दो प्रकार के होते हैं—गुरु और लघु । यही वर्णद्वय छन्दःशास्त्र के मूलाधार हैं । पिङ्गलशास्त्र में गुरु और लघुवर्ण से ही समस्त कार्य सिद्ध होते हैं । इन्हीं के संयोग से 'गण' बनते हैं ।

गुरु–लघु–विचार ।

दीर्घ अक्षर को 'गुरु' और ह्रस्व अक्षर को 'लघु' कहते हैं । महर्षि पाणिनि ने अपने शास्त्र में 'ह्रस्वं लघु' (१।४।१०) 'दीर्घञ्च' (१।४।१२)

इन दो सूत्रों द्वारा लघु वर्ण की 'ह्रस्व' संज्ञा और दीर्घ वर्ण की 'गुरु' संज्ञा का विधान किया है। इसी प्रकार उन्होंने वहीं पर 'संयोगे गुरु' (१।४।११) इस तृतीय सूत्र द्वारा सिद्ध किया है कि—जिस ह्रस्व वर्ण के आगे यदि संयुक्त वर्ण हो, तो उस ह्रस्व को भी 'गुरु' कहते हैं। अनुस्वार तथा विसर्ग-युक्त पादान्तस्थ वर्ण भी आचार्य पिङ्गल के सिद्धान्त में गुरु कहे जाते हैं। इस विषय का स्पष्टीकरण श्रुतबोध में इस प्रकार किया गया है—

संयुक्ताद्यं दीर्घं सानुस्वारं विसर्गसम्मिश्रम्।
विज्ञेयमक्षरं गुरु पादान्तस्थं विकल्पेन ॥

गुरु-लघु-परिचायक सङ्केत।

वक्र (तेढ़ी) रेखा (ऽ) से गुरु का सङ्केत और सीधी रेखा (।) से लघु का सङ्केत समझना चाहिये।

मात्रा-विचार।

वर्ण के उच्चारण में जो समय व्यतीत होता है उसे 'मात्रा' कहते हैं। मात्रा का भी काल गुरु-लघु वर्णों के उच्चारण के काल द्वारा निर्धारित किया जाता है। अर्थात् जो समय लघु-वर्ण के उच्चारण में लगता है उसकी एक मात्रा मानी जाती है और यह समय उतना ही होता है जितना कि एक चुटकी बजाने में समय लगता है। जो समय गुरु वर्ण के उच्चारण में व्यतीत होता है उसकी दो मात्राएँ मानी जाती हैं, क्योंकि लघु-वर्ण की अपेक्षा गुरु-वर्ण के उच्चारण में द्विगुण काल लगता है।

'एकमात्रो भवेद् ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते' इस वाक्य के अनुसार लघुवर्ण की एक मात्रा और गुरु वर्ण की दो मात्राएँ मानी जाती हैं। 'व्यञ्जनं चार्द्धमात्रिकम्' इसके अनुसार यद्यपि व्यञ्जनों की भी आधी मात्रा होनी चाहिये, किन्तु छन्दःशास्त्र में उसका परिगणन नहीं किया जाता है। एवं 'त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयः'। इस सिद्धान्त के अनुसार

प्लुत संज्ञा भी स्वरों की होती है तथा वह त्रिमात्रिक होता है, परन्तु पिङ्गलशास्त्र में व्यञ्जनों की तरह उसका आदर नहीं है, उसका उपयोग तो केवल व्याकरण एवं सङ्गीतशास्त्र में ही होता है।

गण-विचार।

तीन वर्ण के समूह को 'गण' कहते हैं। महर्षि पिङ्गल के मतानुसार तीन-तीन वर्णों का सङ्कलन कर गणों की कल्पना की जाती है, जो कि छन्दःशास्त्र के मुख्य अङ्ग हैं। वे गण आठ प्रकार के हैं। यथा—

"मगणो यगणश्चैव सगणो रगणस्तथा।
जगणस्तगणश्चापि भगणो नगणोऽप्यथ॥" (श्रुतबोध)

उपर्युक्त अष्टगणों के लक्षण और इनके नाम का उल्लेख निम्नलिखित अनुष्टुप् छन्द के एक ही श्लोक में कैसी सुन्दरता से किया गया है—

"आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्।
यरता लाघवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम्॥"

अन्यत्र भी एक दूसरा प्रमाण इस प्रकार है—

"मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः।
जो गुरुमध्यगतो रलमध्यः सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः॥"

छन्दःशास्त्र के अवतार भगवान् पिङ्गलाचार्य ने लाघवता को दृष्टि में रखते हुए म, य, र, स, त, ज, भ न, और ग, तथा ल, इन दश वर्णों द्वारा ही अपना सङ्केत व्यक्त किया है। अर्थात् 'म' से लेकर 'न' पर्यन्त एक एक वर्ण से एक एक गण का (जैसे—'म' से मगण, 'य' से यगण, 'र' से रगण इत्यादि) बोध होता है, और साथ ही 'ग' से गुरु एवं 'ल' से लघु का निर्देश होता है अर्थात् 'ग' और 'ल' द्वारा केवल एक एक वर्ण का ही बोध होता है। इसी प्रकार सङ्गीतशास्त्र के निर्द्धारक आचार्यों ने भी 'षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद' नामक सप्त-स्वरों का सङ्केत केवल आदि के एक एक अक्षर को लेकर 'स, रे, ग, म, प, ध, नि' इस प्रकार के लघुभूत

सङ्केत से समस्त सङ्गीत-शास्त्र का निभालन किया है।

भगवान् पिङ्गलाचार्य ने स्व-रचित पिङ्गल-सूत्र में सर्वप्रथम गण पर ही अपनी लेखनी उठाई है। गणों की व्याख्या करते हुए सूत्रकार ने अपने 'धीश्री स्त्री म्' इस प्रथम सूत्र में उपर्युक्त गणों की परिभाषा का निरूपण तथा छन्दःशास्त्र के प्रधान प्रधान सिद्धान्तों का सुन्दरता से उल्लेख किया है अर्थात् छन्दोवर्ग द्वारा दशवर्णात्मकता तथा षण्मात्रत्वादि का सूक्ष्म-रूप से उल्लेख कर अवशिष्ट गणों की पारिभाषिक सूत्रों (पि०सू० १-८) द्वारा *गुरु-शिष्य संवादरूप में छन्दःशास्त्र के वास्तविक तत्त्व का निरूपण ऐसी उत्तमता के साथ किया है कि जिसका परिज्ञान पूर्ण अध्ययन और मनन द्वारा ही हो सकता है। अतः छन्दोज्ञानाभिलाषुकों को, विशेषतः काव्यरसिकों को चाहिये कि—वे पिङ्गलच्छन्दःसूत्र जैसे परमादरणीय ग्रन्थ का अवश्यमेव स्वाध्याय करें।

गणों के देवता और उनका फल।

उपर्युक्त आठ गणों में किस गण का कौन देवता है और उसका फल क्या है? इस विषय का ज्ञान होना छन्दःशास्त्र के अध्ययन-शीलों को परमावश्यक है। अतः हम गण-देवता आदि के सूचित करने वाले प्रमाण को उपस्थित करते हैं। जैसे—

मो भूमिः श्रियमातनोति य जलं वृद्धिं रचाग्निर्मृतिं
सो वायुः परदेशदूरगमनं त व्योम शून्यं फलम्।
जः सूर्यो रुजमाददाति विपुलं भेन्दुर्यशो निर्मलं
नो नाकश्च सुखप्रदः फलमिदं प्राहुर्गणानां बुधाः॥

पिङ्गलच्छन्दःसूत्र।

पिङ्गलच्छन्दःसूत्र के रचयिता आचार्य पिङ्गलाचार्य हैं। वैदिक-साहित्य में इस सूत्र का बहुत ही उच्च स्थान है। इस पुस्तक का प्रण-

* गुरु-शिष्य संवाद का उल्लेख पिङ्गलसूत्र के 'अष्टौ वसवः' (१।१५) इस सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट है। अतः पाठकगण वहीं पर देखें।

यन वैदिक और लौकिक इन दो विषयों को लेकर किया गया है। पिङ्गलच्छन्दःसूत्र में आठ अध्याय हैं, उन में प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्याय के सप्तम सूत्र (द्वितीयं द्वितीयमतितः) पर्यन्त वैदिक छन्दःप्रकरण है और चतुर्थ अध्याय के 'अत्र लौकिकम्' इस आठवें सूत्र से लेकर अष्टम अध्याय पर्यन्त लौकिकच्छन्दःप्रकरण है।

वैदिकच्छन्दःप्रकरण की प्राचीनता।

पिङ्गलसूत्र का वैदिकच्छन्दःप्रकरण अत्यन्त प्राचीन है, क्योंकि वैदिक छन्द में प्रतिपादित सभी छन्द ऋग्वेदादि में प्रस्तुत हैं। अतः ऋग्वेद से बढ़ कर वैदिक छन्द की प्राचीनता की पुष्टि के लिए और क्या प्रमाण हो सकता है?

वैदिकच्छन्दःप्रकरण का प्रतिपाद्य विषय।

प्रथम अध्याय—गुरुत्व–लघुत्व का निर्देश तथा गणाष्टकों का निरूपण।

द्वितीय अध्याय—'गायत्री' प्रभृति छन्दों की अक्षर-संख्या का निरूपण।

तृतीय अध्याय—'गायत्री' प्रभृति छन्दों के लक्षणों का निर्देश तथा पाद-व्यवस्था का निर्देश, एवं गायत्री प्रभृति छन्दों के देवता, स्वर, वर्ण एवं गोत्र का निरूपण।

चतुर्थ अध्याय—'उत्कृति' प्रभृति छन्दों के स्वरूप का निरूपण।

पिङ्गलाचार्य।

आचार्य पिङ्गल के नाम पिङ्गलाचार्य, पिङ्गलमुनि और पिङ्गलनाग आदि प्रसिद्ध हैं।

पिङ्गल के विषय में महाभारत के आदि पर्व में भगवान् व्यासजी ने "निष्टानको हेमगुहो नहुषः पिङ्गलस्तथा।" (३५।९) यह लिखा है। अर्थात् सर्प-यज्ञ हो जाने के बाद जले हुए अनेक सर्पों में से 'पिङ्गल' नाम का सर्प भी अवशिष्ट बच गया था। किन्तु यह

पिङ्गलच्छन्दःशास्त्र का निर्माणकर्ता सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इसमें मुनित्व का अभाव है और साथ ही उसका मरण भी विपरीत ढंग से हुआ था, ऐसा सुना गया है। किन्तु मत्स्यपुराण के 'बोधिर्नगः सौगमाद्त्तिदीरयोरिकिरिव च' (१९६।६) इस वचन से 'नग' के पुत्र 'पिङ्गल' सिद्ध होते हैं। अत एव वहीं पर 'ज्ञात्वायनो हरिर्वाश्यः पैङ्गलश्च तथैव च' (१९६।३२) यह कहा है। इसमें जिस पिङ्गल का नाम-स्मरण किया गया है, उन्हीं के पिता पिङ्गलनाग हो सकते हैं। 'नाग' शब्द से इनका सर्पार्थक वर्णन भी पर्यायत्वेन सङ्गत ही प्रतीत होता है।

वामनपुराण में 'सनातनोऽप्यासुरिपिङ्गलौ च' (१४।२५) ऐसा पाठ मिलता है। यहाँ पर भी आसुरिसाहचर्य से वही पिङ्गल मालूम होते हैं।'

स्कन्दपुराणान्तर्गत काशी-खण्ड में—

"गणेन पिङ्गलाख्येन पिङ्गलेशाख्यसंज्ञितम्।
लिङ्गं प्रतिष्ठितं शम्भोः .... ॥" (५५।२)

इस प्रकार का पाठ मिलता है। पिङ्गलाचार्य के विषय में यत्र तत्र 'शिवप्रसादाद्विशुद्धमतिः' यह विशेषण कहा गया है। अतः शिवभक्ति-प्राधान्य से स्कन्दपुराणीय वर्णन भी इन्हीं पिङ्गल का संभव है।

षड्गुरुशिष्य ने पिङ्गल के विषय में स्व-रचित 'वेदार्थदीपिका' में यों कहा है—

"तथा च सूत्र्यते हि भगवता पिङ्गलेन पाणिन्यनुजेन 'क्वचित्त्रि-वकाश्चत्वारः' (पि० सू० ३।३३)।"

षड्गुरुशिष्य के उपर्युक्त सिद्धान्तानुसार पिङ्गलच्छन्दःसूत्र के निर्माणकर्ता भगवान् पिङ्गलाचार्य महर्षि पाणिनि के अनुज (कनिष्ठ भ्राता) थे। इसी बात की पुष्टि के लिये वह पुनः स्व-लिखित 'शिक्षा प्रकाश' में कहते हैं—

''इत्येवमनुमितिविहितो व्याकरणेऽनुजनुस्तत्र भगवान्
पिङ्गलाचार्यस्तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं जानीते।''

महर्षि पाणिनि ने भी अपने कनिष्ठ भ्राता का स्मरण करते हुए अपने व्याकरण शास्त्र के [illegible] (६।२।६४) में 'पिङ्गल' के नाम का उल्लेख किया है। पाणिनि ने ही नहीं, बल्कि भाष्यकार पतञ्जलि ने भी अपने पूर्वाचार्य पाणिनि के कनिष्ठ भ्राता का एक जगह 'पिङ्गलकाण्व-शयच्छात्राः पैङ्गलकाण्वाः' (१।१।७३) इस प्रकार स्मरण किया है।

कुछ लोग व्याकरण-महाभाष्य के रचयिता महर्षि पतञ्जलि को ही 'पिङ्गल' स्वीकार करते हैं, किन्तु यह भी सर्वथा प्रामादिक प्रतीत होता है। महाभाष्य के नवाह्निक में 'पैङ्गलकाण्व' (१।७३) यह सूत्र पढ़ा गया है। इस सूत्र में 'पिङ्गल' और 'काण्व' इन दो शब्दों के उपलब्ध हो जाने से महाभाष्य तथा उसके निर्माणकर्त्ता पतञ्जलि पिङ्गल से परवर्ती ही सिद्ध होते हैं। और सब से बड़ी बात तो यह है कि ऋग्वेद का सर्वानुक्रम सूत्र अत्यन्त प्राचीन है। ऋक्सर्वानुक्रम-सूत्र में छन्दःशास्त्रीय सूत्रों की अनुवाद सङ्गति मिलने से छन्दःशास्त्र का प्रणेता महर्षि पतञ्जलि कदापि नहीं हो सकता।

कुछ लोग पिंगलाचार्य को नागवंशज मानते हैं। पिंगलछन्द के प्रारम्भिक मङ्गलाचरण में 'स जयति पिंगलनागः' इत्यादि कहा गया है। यह भी 'पिंगलनाग' नाम का ही द्योतक है। छन्दःशास्त्र के अध्ययन के समय मैंने अपने परमपूज्य स्वर्गीय श्री पिता जी (महामहोपाध्याय पण्डितप्रवर श्रीविद्याधर जी शास्त्री) से पिंगलनाग के बारे में एक विस्तृत आख्यायिका सुनी थी, जिसका यहाँ केवल सारांश-मात्र हम पाठकों के सामने समुपस्थित करते हैं—

'एक समय पाताललोक-निवासी फणिपति पिंगलनाग पृथिवीलोककी दर्शन-लालसा से पृथिवीलोक में आये। पश्चात् उन्होंने पृथिवी के प्रसिद्ध प्रसिद्ध समस्त स्थानों में भ्रमण किया। कुछ दिनों बाद वह पृथिवी—लोक से तृप्त होकर पुनः अपने निवासस्थान (पाताल लोक) की ओर

अग्रसर हुए। दुर्दैव से अकस्मात् मार्ग में उन की गरुड़ से भेंट हो गई। अपने सहज शत्रु (गरुड़) को देख कर यह पूर्ण भयभीत हो गये और जीवन की आशा को तिलाञ्जलि देते हुए किसी प्रकार साहस कर वह गरुड़ के सम्मुख उपस्थित हुए और बड़ी ही नम्रता से कम्पित स्वरों में बोले—

'हे पक्षिराज ? मेरी मृत्यु के बाद वेद का एक प्रधान अङ्ग छन्दः-शास्त्र भी मेरे साथ ही लुप्त हो जायगा। अतः छन्दःशास्त्र की रक्षा के लिए आप मुझ से पहले छन्दःशास्त्र का श्रवण कर लें, पश्चात् मुझे मार डालें।'

पिंगल के आश्चर्यमय वृत्तान्त को सुन कर गरुड़ ने भी छन्दःशास्त्रके सुनने की इच्छा प्रकट की। अनन्तर पिंगलनाग ने विस्तारपूर्वक छन्दः-शास्त्र का वर्णन करते हुए चतुःसंख्यक यकार के प्रस्तार-बोधक अङ्क-सङ्केतों को उनके समक्ष उपस्थित किया। गरुड़ भी छन्दःशास्त्र और इस के प्रस्तारादि बोधक सङ्केत को देख कर मुग्ध हो गये। इधर पिंगलनाग धीरे धीरे समुद्र में जा पहुँचे और 'चतुर्भिर्यकारैर्भुजङ्गप्रयातम्' इस प्रकार कह कर हँसते हुए समुद्र-मार्ग द्वारा 'पाताललोक' में प्रवेश कर गये।'

इसी प्रकार की अनेक दन्तकथाएँ पिंगलाचार्य के विषयमें सुनी-जाती हैं, किन्तु उन में किसी भी कथा का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। वस्तुसत्ता तो यह है कि—आचार्य पिंगल का या अन्य किसी भी प्राचीन ऋषि महर्षि के वास्तविक समय आदि का निश्चित करना केवल भगीरथ-प्रयत्न मात्र है।

पिङ्गल की जन्मभूमि।

आचार्य पिंगल की जन्म-भूमि के विषय में वात्स्यायन-सूत्र की 'जयमङ्गला' नामक व्याख्या में पिंगल के 'अपरान्तिका' तथा 'वानवा-सिका' इन दो स्त्री-वाचक शब्दों को इस प्रकार व्याख्या की है—

अपरान्तिका—'पश्चिमसमुद्रसमीपेऽपरान्तदेशः, तत्र भवा।'
वानवासिका—'कोङ्कणविषयात् पूर्वेण वनवासविषयः, तत्र भवा।' (२।५।२६।३२)

जयमङ्गलाके व्याख्याकार महोदय ने 'पिंगल' को पश्चिम समुद्र का तीरप्रान्त-निवासी सिद्ध किया है। वास्तविक में यह बात उपयुक्त प्रतीत होती है, क्योंकि पञ्चतन्त्रकार श्री विष्णुशर्मा ने भी इसी बात की पुष्टि अपने निम्नलिखित श्लोक द्वारा इस प्रकार की है—

"सिंहो व्याकरणस्य कर्त्तुरहरत्प्राणान् प्रियान् पाणिनेः,
मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलं,
अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः॥"
(मित्रसम्प्राप्ति, श्लोक ३६।)

कथा-सरित्सागर का मत यह है कि—विक्रमशताब्दी से पहले पाँचवी शताब्दी (५००) में 'नन्द' के राज्यकाल में पिंगल का अस्तित्व विद्यमान था। उन्होंने पटना-निवासी 'वर्ष' और 'उपवर्ष' नामक दो विद्वानों से कुछ काल पर्यन्त संस्कृत-साहित्य का अध्ययन भी किया था। अत एव छठवीं शताब्दी (६००) में उत्पन्न हुए श्रीविष्णुशर्मा ने अपने पञ्चतन्त्र में उनके मरण-काल की चर्चा उपयुक्त 'सिंहो व्याकरणस्य' इस श्लोक में की है।

भट्ट हलायुध।

संस्कृत-साहित्य में 'हलायुध' नाम के अनेक उद्भट विद्वानों के नाम उपलब्ध हैं, किन्तु उनमें पिंगलसूत्र की 'मृतसञ्जीवनी' के टीकाकार कौन हैं? इसका हमें वास्तविक निर्णय करना है। पिंगलसूत्र के टीकाकार के विषय में अनेक किम्वदन्तियाँ सुनने में आती हैं, उन्हें हम क्रमशः पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हैं।

(१) किसी पूर्व धर्मनिष्ठ बंगदेश के महाराज द्वारा बुलाए हुए

पण्डितों में एक भट्ट नारायण भी थे। इन्हीं के वंशज हलायुध कहे जाते हैं। हलायुध भट्ट नारायण की बारहवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे। यह बंगदेश के अधिपति श्री लक्ष्मणसेन के यहाँ सभा पण्डित एवं धर्माधिकारी थे। बंगदेशाधिपति श्री लक्ष्मणसेन का अस्तित्व बारहवीं शताब्दी में कहा जाता है अतः हलायुध का भी वही काल प्रतीत होता है।

(पिंगलच्छन्दःसूत्र, प्रकाशक—छात्र-पुस्तकालय, कलकत्ता।)

(२) पिंगलसूत्र के टीकाकार भट्ट हलायुध गौडदेशवासी श्रीपुरुषोत्तम के पुत्र थे। श्रीहलायुध महोदय दशवीं सदी में विद्यमान थे।

(हिन्दी विश्वकोश, कलकत्ता।)

(३) 'मृतसञ्जीवनी' के प्रणेता भट्ट हलायुध शालिवाहनीय पन्द्रहवीं शताब्दी में विद्यमान थे। क्योंकि तदानीन्तन स्वप्रणीत 'कविरहस्य' नामक काव्य में कृष्णराज का वर्णन है। और वही कृष्णराज उस समय विजयनगर के राजा थे। इस में कारण यह है कि १४३०वीं शताब्दी में उनकी दी हुई प्रशस्ति में निम्नलिखित 'नमस्तुङ्गशिरश्चुम्बिचन्द्रचामरचारवे' यह श्लोक उपलब्ध है और यही श्लोक छन्दःशास्त्र की हलायुधवृत्ति में भी उपलब्ध है। किन्तु उपर्युक्त कथन में तथ्यता नहीं प्रतीत होती क्योंकि 'नमस्तुङ्गशिरः" इसी श्लोक के आधार पर उपर्युक्त कथन प्रामाणिक माना जा सकता था—किन्तु यह श्लोक तो 'हर्षचरित' आदि में भी उपलब्ध है, अतः यह श्लोक अत्यन्त प्राचीन और अन्य विद्वान् द्वारा बनाया हुआ प्रतीत होता है।

(छन्दःशास्त्र, प्रकाशक—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई)

भट्ट हलायुध का देश।

(१) 'इह हि भवति दण्डकारण्यदेशे स्थितिः' (पिङ्गलसूत्रवृत्ति, ७।३३)

तथा—

'पद्माम्बिकातीर्थयात्रागतानेकसिद्धाकुले' (पिंगलसूत्रवृत्ति, ७।३३)

इन दो पदों से हलायुध दाक्षिणात्य और दक्षिण-देश के सिद्ध होते हैं। (छन्दःशास्त्र, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई)

(२) भट्ट हलायुध गौडदेशान्तर्गत 'वरवट' नामक गाँव के निवासी थे। वह ग्यारहवीं शताब्दी में विद्यमान थे और तत्कालीन बङ्गदेशाधिपति लक्ष्मणसेन के यहाँ सभा-पण्डित थे। (विद्वद्वृत्त, अयोध्या)

भट्ट हलायुध के विषय में हमारा निजी विचार।

पिंगलसूत्र के व्याख्याकार भट्ट हलायुध को कोई दाक्षिणात्य, कोई बंगाली, कोई और कुछ सिद्ध करते हैं। इस विषय में हमें भी कुछ वक्तव्य है। हमारा कथन सर्वथा प्रामाणिक ही है, इस बात का हम आप महानुभावों को किञ्चिन्मात्र भी विश्वास नहीं दिलाते। इस विषय में आप लोग स्वयं निर्णय कर लेवें।

पिंगलसूत्र की 'सञ्जीवनी' के व्याख्याकार भट्ट हलायुध महोदय 'मैथिल' ब्राह्मण थे। मैथिल लोग 'भट्ट' कहलाते हैं और मैथिल-ब्राह्मणों के नाम के आगे ही 'भट्ट' शब्द का व्यवहार किया जाता है। भट्ट हलायुध के पिता का नाम 'भानुमिश्र' था जो कि अपने समय के एक ही विद्वान् थे। इन्होंने 'रसमञ्जरी' का निर्माण किया है। रसमञ्जरी के प्रारम्भ में वह स्वयं अपनी जन्मभूमि के विषय में कहते हैं कि—

"तातो यस्य गणेश्वरः कविकुलालङ्कारचूडामणिः।
देशो यस्य*विदेहभूः सुरसरित्कल्लोलकिर्मीरिता॥"

इसी बात को पुष्ट करने वाला हमें एक प्रमाण पिंगलच्छन्दःसूत्र के सातवें अध्याय के तेंतीसवें सूत्र की सञ्जीवनी वृत्ति के 'इह हि भवति' इत्यादि श्लोक में मिलता है। इस से भी हलायुध की जन्मभूमि 'मिथिला' ही सिद्ध होती है।

अब भी दरभंगा में भट्टोपनामक चार ग्राम विद्यमान हैं जो कि

* विदेहभूः—मिथिलाभूमिः, 'विदेहा मैथिले समे' इत्यमरः।

अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उन के नाम इस प्रकार हैं—

(प्राचीन नाम)	(आधुनिक नाम)
(१) भट्ट शिरोमणि	(भटसिमरी)
(२) भट्टग्राम	(भटगामा)
(३) भट्टपुर	(भटपुरा)
(४) भटवरा	(भटरा)

इन चारों ग्रामों में से हलायुध किस ग्राम के निवासी थे, इस का निर्णय करना कठिन है, किन्तु यह निश्चित है कि भट्ट हलायुध इन्हीं चारों ग्रामों में से किसी एक के निवासी अवश्य थे।

उपर्युक्त भट्ट ग्रामों में अभी भी भट्ट-मैथिल-ब्राह्मण निवास करते हैं। भट्ट ब्राह्मण 'दीर्घघोष' के वंशज हैं और 'दीर्घघोष' वंश केवल मैथिल-ब्राह्मणों में ही होता है। और भट्ट हलायुध भी इसी वंश के थे।

बङ्गदेश के महाराज लक्ष्मणसेन के यहाँ हलायुध महोदय सभा-पण्डित और धर्मविभाग के मन्त्री थे। यह १०३० शाकाब्द में विद्यमान थे *।

दो शब्द।

मानानीय विद्वज्जन!

महर्षि पिङ्गलाचार्य-प्रणीत पिङ्गलच्छन्दःसूत्र संस्कृत-साहित्यिकों के लिये कितना प्रशस्त एवं लोकोपकारक है, यह विचार-शील विद्वान् स्वयं जानते हैं। इस ग्रन्थरत्न की उपादेयता का ही कारण है कि यह काशी, विहार, बंगाल आदि की युनिवर्सिटियों में पाठ्य-ग्रन्थ रक्खा गया है। साहित्य आदि विषयों में यह समस्त ग्रन्थ रक्खा गया

---

* हमने इस लेख को दरभङ्गा-निवासी पण्डित श्री व्रजविहारी झा (दानाध्यक्ष—महारानी साहिबा दरभङ्गा, काशी) महोदय को दिखाया था, उन्होंने हमारे विचार को अत्यन्त प्रामाणिक बतलाया है।

है और वेद की परीक्षा में केवल वैदिकच्छन्दःप्रकरण ही रक्खा गया है। अतः हमने वैदिक परीक्षार्थी छात्रों के विशेष लाभ के लिए केवल वैदिकच्छन्दःप्रकरण का ही सम्पादन किया है। महर्षि पिंगल के सूत्र महर्षि पाणिनि के अष्टाध्यायी के सूत्रों की तरह अत्यन्त जटिल और गूढ है। अत एव जिस प्रकार अष्टाध्यायी के सूत्रों का अर्थ बगैर टीका के स्पष्ट नहीं होता उसी प्रकार पिंगलसूत्रों का भी अर्थ ज्ञान टीका के बिना कदापि सम्भव नहीं है। पिंगलसूत्र के अर्थ-ज्ञान के लिए हमारे विचार से इस समय भट्ट हलायुध की 'मृतसञ्जीवनी' टीका अत्यन्त प्रामाणिक है जो कि सम्प्रति हमारे सामने प्रस्तुत है। यद्यपि हलायुध महोदय ने अपनी भावमयी टीका लिख कर पिंगलसूत्र का अर्थ बहुत ही सरल बना दिया है तथापि कतिपय छात्रों को सूत्रार्थ समझने में विशेष काठिन्य का अनुभव करना पड़ता था। अतः इस अभाव की पूर्ति के लिए हमने यथामति 'प्रेमानुभूति' नामक हिन्दी-भाषा-टीका लिखा है और स्थान-विशेष में आवश्यक टिप्पणी भी की है।

हमने विशेषतः पिंगलाचार्य के सूत्रों का ही केवल अर्थ किया है, किन्तु इनमें कुछ सूत्र ऐसे हैं जिनका अर्थ टीका से भी स्पष्ट नहीं होता था उन सूत्रों का अर्थ उपजीव्योपजीवक-भाव की मर्यादा का संरक्षण करते हुए विस्तृत रूप में किया है। यह सब होते हुए भी—

"गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥"

इस न्याय से स्वाभाविक मानवदोषानुसार एवं मुद्रणजन्य त्रुटियों को क्षमा-प्रदान करते हुए नीरक्षीरविवेकमानस महानुभाव इस 'प्रेमानुभूति' को अवश्य अपनावेंगे, ऐसी आशा है।

समय की विकट परिस्थिति के कारण सभी वस्तु आवश्यकता से अधिक मँहगी हो गई हैं, उनमें काग़ज़ की गणना सर्व-प्रथम की जाय तो कोई विशेष अत्युक्ति नहीं कही जा सकती। क्योंकि और सब वस्तुओं की आवश्यकता की पूर्ति अधिक से अधिक मूल्य देने पर कथ-

क्षित हो सकती है, किन्तु कागज का मिलना या उसके लिए प्रयास करना केवल आकाश पुष्पवत् ही है । इस प्रकार की भीषण परिस्थिति का सामना करते हुए भी संस्कृत-विद्यानुरागी परोपकार हृदय श्रीयुत बाबू बैजनाथ प्रसादजी ने अपनी स्वाभाविक उदारशीलता से बाध्य होकर परीक्षार्थियों के लाभार्थ पिङ्गलच्छन्दःसूत्र (वैदिकच्छन्दःप्रकरण) का प्रकाशन किया है । इतना ही नहीं, उन्होंने छात्रों की आर्थिक-परिस्थिति की ओर लक्ष्य करते हुए इस संस्करण का मूल्य केवल लागत मात्र ही रक्खा है । इसके लिए हम प्रकाशक महोदय को हार्दिक धन्यवाद देते हैं और सर्वान्तर्यामी प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वे इनके सर्वविधकल्याण-साधन में सर्वदा सहायक बने रहें ।

'मास्टर-प्रिण्टिङ्ग-वर्क्स' के व्यवस्थापक श्रीयुत बाबू मन्नालालजी एम्० ए० महोदय का भी मैं पूर्ण अनुगृहीत हूँ, जिन्होंने अत्यन्त स्वल्प समय में पिङ्गलच्छन्दःसूत्र को सुन्दर रूप में प्रकाशित किया है ।

अन्त में परमकारुणिक परमेश्वर से करबद्ध प्रार्थना है कि वे द्विजातिमात्र के हृदयों में छन्दःशास्त्र के स्वाध्याय की ओर विशेष रुचि उत्पन्न करें ।

वेद-वेदाङ्गोपासकः—

गोयनका-
सं० म० वि०,
काशी ।

श्रीवेणीरामशर्मा गौडः

३ जनवरी, १९४३

॥ श्रीः ॥

विषय-सूची ।

(प्रथमोऽध्यायः)

(द्वितीयोऽध्यायः)

—०—

(तृतीयोऽध्यायः)

—०—

(चतुर्थोऽध्यायः)

—*—

॥ श्रीः ॥

श्रीमत्पिङ्गलाचार्यविरचितं

पिङ्गलच्छन्दःसूत्रम् ।

अथ प्रथमोऽध्यायः ।

धीश्रीस्त्री म् ॥१॥ वरा सा य् ॥२॥ का गुहा र् ॥३॥ वसुधा स् ॥४॥ सा ते क्व त् ॥५॥ कदा स ज् ॥६॥ किं वद भ् ॥७॥ न हस न् ॥८॥ गृ ल् ॥९॥ गन्ते ॥१०॥ ध्रादिपरः ॥११॥ हे ॥१२॥ लौ सः ॥१३॥ ग्लौ ॥१४॥ अष्टौ वसव इति ॥१५॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

—०—

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

छन्दः ॥१॥ गायत्री ॥२॥ दैव्येकम् ॥३॥ आसुरी पञ्चदश ॥४॥ प्राजापत्याष्टौ ॥५॥ यजुषां षट् ॥६॥ साम्नां द्विः ॥७॥ ऋचां त्रिः ॥८॥ द्वौ द्वौ साम्नां वर्धेत ॥ ९ ॥ त्रींस्त्रीनृचाम् ॥१०॥ चतुरश्चतुरः प्राजापत्यायाः ॥११॥ एकैकं शेषे ॥१२॥ जह्यादासुरी ॥१३॥ तान्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यः ॥१४॥ तिस्रस्तिस्रः सनाम्न्य एकैका ब्राह्म्यः ॥१५॥ प्राग्यजुषामार्ष्य इति ॥१६॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

—०—

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

पादः ॥१॥ इयादिपूरणः ॥२॥ गायत्र्या वसवः ॥३॥ जगत्या आदित्याः ॥४॥ विराजो दिशः ॥५॥ त्रिष्टुभो रुद्राः ॥६॥ एकद्वित्रिचतुष्पादुक्तपादम् ॥७॥ आद्यं चतुष्पाद्दतुभिः ॥८॥ कचित्त्रिपाद्दषिभिः ॥९॥ सा पादनिचृत् ॥१०॥ षट्कसप्तकयोर्मध्येऽष्टावतिपादनिचृत् ॥११॥ द्वौ नवकौ षट्कश्च नागी ॥१२॥ विपरीता वाराही ॥१३॥ षट्कसप्तकाष्टकैर्वर्धमाना ॥१४॥ विपरीता प्रतिष्ठा ॥१५॥ तृतीयं द्विपाज्जागतगायत्राभ्याम् ॥१६॥ त्रिपात्त्रैष्टुभैः ॥१७॥ उष्णिग्गायत्रौ जागतश्च ॥१८॥ ककुम्मध्ये चेदन्त्यः ॥१९॥ पुर उष्णिक् पुरः ॥२०॥ परोष्णिक् परः ॥२१॥ चतुष्पाद्दषिभिः ॥२२॥ अनुष्टुब्गायत्रैः ॥२३॥ त्रिपात्कचिज्जागताभ्यां च ॥२४॥ मध्येऽन्ते च ॥२५॥ बृहती जागतस्त्रयश्च गायत्राः ॥२६॥ पथ्या पूर्वश्चेत्तृतीयः ॥२७॥ न्यङ्कुसारिणी द्वितीयः ॥२८॥ स्कन्धोग्रीवी क्रौष्टुकेः ॥२९॥ उरोबृहती यास्कस्य ॥३०॥ उपरिष्टाद्बृहत्यन्ते ॥३१॥ पुरस्ताद्बृहती पुरः ॥३२॥ क्वचिन्नवकाश्चत्वारः ॥३३॥ वैराजौ गायत्रौ च ॥३४॥ त्रिभिर्जागतैर्महाबृहती ॥३५॥ सतोबृहती ताण्डिनः ॥३६॥ पङ्क्तिर्जागतौ गायत्रौ च ॥३७॥ पूर्वौ चेदयुजौ सतः पङ्क्तिः ॥३८॥ विपरीतौ च ॥३९॥ प्रस्तारपङ्क्तिः पुरतः ॥४०॥ आस्तारपङ्क्तिः परतः ॥४१॥ विष्टारपङ्क्तिरन्तः ॥४२॥ संस्तारपङ्क्तिर्बहिः ॥४३॥ अक्षरपङ्क्तिः पञ्चकाश्चत्वारः ॥४४॥ द्वावप्यल्पशः ॥४५॥ पदपङ्क्तिः पञ्च ॥४६॥ चतुष्कषट्कौ त्रयश्च ॥४७॥ पथ्या पञ्चभिर्गायत्रैः ॥४८॥ जगती षड्भिः ॥४९॥

एकेन त्रिष्टुब्ज्योतिष्मती ॥५०॥ तथा जगती ॥५१॥ पुरस्ताज्ज्योतिः प्रथमेन ॥५२॥ मध्येज्योतिर्मध्यमेन ॥५३॥ उपरिष्टाज्ज्योतिरन्त्येन ॥५४॥ एकस्मिन्पञ्चके छन्दः शङ्कुमती ॥५५॥ षट्के ककुम्म(द्म)ती ॥५६॥ त्रिपादणिष्ठमध्या पिपीलिकमध्या ॥५७॥ विपरीता यवमध्या ॥ ५८ ॥ ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ ॥५९॥ द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ ॥६०॥ आदितः सन्दिग्धे ॥६१॥ देवतादितश्च ॥६२॥ अग्निः सविता सोमो बृहस्पतिर्मित्रावरुणाविन्द्रो विश्वेदेवा देवताः ॥६३॥ स्वराः षड्जादयः ॥६४॥ सितसारङ्गपिशङ्गकृष्णनीललोहितगौरा वर्णाः ॥६५॥ आग्निवेश्यकाश्यपगौतमाङ्गिरसभार्गवकौशिकवासिष्ठानि गोत्राणि ॥६६॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

—०—

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

चतुःशतमुत्कृतिः ॥१॥ चतुरश्चतुरस्त्यजेदुत्कृतेः ॥२॥ तान्यभिसंव्याप्रेभ्यः कृतिः ॥३॥ प्रकृत्या चोपसर्गवर्जितः ॥४॥ धृत्यष्टिशक्करीजगत्यः ॥५॥ पृथक्पृथक्पूर्वत एतान्येवैषाम् ॥६॥ द्वितीयं द्वितीयमतितः ॥७॥

इति पिङ्गलच्छन्दःसूत्रे चतुर्थाऽध्याये वैदिकच्छन्दःप्रकरणं समाप्तम् ॥४॥

ॐ

श्रीमत्पिङ्गलाचार्यविरचितं

पिङ्गलच्छन्दःसूत्रम् ।

हलायुधवृत्तिसहितम् ।

प्रेमानुभूति-भाषा-टीका-युतम् ।

(प्रथमोऽध्यायः)

नमस्तुङ्गशिरश्चुम्बिचन्द्रचामरचारवे ।
त्रैलोक्यनगरारम्भमूलस्तम्भाय शम्भवे ॥ १ ॥
श्रीमत्पिङ्गलनागोक्तच्छन्दःशास्त्रमहोदधौ ।
वृत्तानि मौक्तिकानीव कानिचिद्विचिनोम्यहम् ॥ २ ॥

---

* श्रीः *

विघ्नौघध्वान्तविध्वंस–भास्करायित–विग्रहम् ।
अवलम्बे निरालम्बः साम्बं शिवमहर्निशम् ॥ १ ॥
वेदविद्याधरं साक्षाच्छ्रीविद्याधरसंज्ञकम् ।
पितरं स्व–पितृव्यञ्च शिवदत्तमुपास्महे ॥ २ ॥
छात्राणामुत्तितीर्षूणां परीक्षां हितकाम्यया ।
श्रीवेणीरामशर्माणो गृह्यभाष्यादिलेखकाः ॥ ३ ॥
पिङ्गलच्छन्दसां सूत्रं भाषाप्रेमानुभूतितः ।
भूषयामस्तु संयोज्य लोकमात्रसुखावहम् ॥ ४ ॥

वेदानां प्रथमाङ्गस्य कवीनां नयनस्य च ।
पिङ्गलाचार्यसूत्रस्य मया वृत्तिर्विधास्यते ॥ ३ ॥
क्षीराब्धेरमृतं यद्वदुद्धृतं देवदानवैः ।
छन्दोऽब्धेः पिङ्गलाचार्यैश्छन्दोऽमृतं तथोद्धृतम् ॥४॥
म-य-र-स-त-ज-भ-न-ल-ग-सम्मितं भ्रमति वाङ्मयं जगति यस्य ।
स जयति **पिङ्गलनागः** शिवप्रसादाद्विशुद्धमतिः ॥ ५ ॥
त्रिगुरुं विद्धि **मकारं** लघ्वादिसमन्वितं **यकाराख्यम्** ।
लघुमध्यमं तु **रेफं सकारमन्ते** गुरुनिबद्धम् ॥ ६ ॥
लघ्वन्त्यं हि **तकारं जकारमुभयोर्लघुं** विजानीयात् ।
आदिगुरुश्च **भकारं नकारमिह** [1]पैङ्गले त्रिलघुम् ॥ ७ ॥
दीर्घं संयोगपरं तथा प्लुतं व्यञ्जनान्तमूष्मान्तम् ।
सानुस्वारं च गुरुं क्वचिदवसानेऽपि लघ्वन्त्यम् ॥ ८ ॥
आदिमध्यावसानेषु य-र-ता यान्ति लाघवम् ।
भ-ज-सा गौरवं यान्ति म-नौ तु गुरुलाघवम् ॥ ९ ॥
त्रिविरामं दशवर्णं षण्मात्रमुवाच **पिङ्गलः** सूत्रम् ।
छन्दोवर्गपदार्थप्रत्ययहेतोश्च शास्त्रादौ ॥ १० ॥

इह हि त्रैवर्णिकानां साङ्गवेदाध्ययनमाम्नायते । अर्थावबोध-पर्यन्तश्चाध्ययनविधिः । [2]वेदाङ्गं च छन्दः । ततस्तदध्ययन-

---

१ पैङ्गले--पिङ्गलेन प्रोक्तं पैङ्गलं तस्मिन् । पिङ्गलमुनिरचितछन्दःशास्त्रे।

२ वेदस्य षडङ्गानि—शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्द इत्यपि ।
ज्योतिषामयनं चैव षडङ्गो वेद इष्यते ॥

अत्र षडङ्गानां मध्ये छन्दस्य गणना वर्त्तते, अतः छन्दस्यापि वेदाङ्गत्वम् ।

विधिबोधितत्वादनुष्ठेयम् । अथ 'अनुष्टुभा यजति, बृहत्या गायति, गायत्र्या स्तौति' इत्येवमादिश्रवणात् अर्थाधातमनुष्टु-बादिज्ञानम् । किं च छन्दसामपरिज्ञानात्प्रत्युत प्रत्यवायः श्रूयते । यथा—'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतविनियोगेन ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा, स [1]स्थाणु [2]वर्च्छति [3]गर्तं वा पद्यते [4]प्रमीयते वा पापीयान् भवति, यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति ।' (छ० ब्रा० ३।७।५) तस्माच्छन्दःपरिज्ञानं कर्तव्यम्, तदर्थमिदं शास्त्रमारभ्यते । तत्र लघुनोपायेन शास्त्राव-बोधसिद्ध्यर्थं संज्ञाः परिभाषते सूत्रकारः—

[5]धीश्रीस्त्री म् ॥ १ ॥

धीश्रीस्त्री इत्यनेन गुरुत्रयं संज्ञित्वेनोपलक्षयति, मकारश्च संज्ञात्वेन । ततश्चायमर्थः—सर्वगुरोस्त्रिकस्य (ऽऽऽ) 'म' इति संज्ञा परिभाष्यते । ध्यादीनामुपादानप्रयोजन[6]मुपरिष्टा-द्वक्ष्यामः । मप्रदेशाः 'विद्युन्माला मौ गौ' (पि० सू० ६।६) इत्येवमादयः ॥१॥

यथा पद्भ्यां विना मानवस्य दुरवस्था जायते, तथैव छन्दोऽन्तरा वेदस्यापि दुरवस्थैव । तथा च पाणिनीयशिक्षायाम्—'छन्दः पादौ तु वेदस्य' (४१)

१ स्थाणुम्—वृक्षादियोनिम् । शुष्कं वृक्षमूलमपि स्थाणुशब्देनोच्यते । स्थाणुशब्दस्य निर्वचनमित्थं निरुक्ते (१।६)-'स्थाणुस्तिष्ठतेरररणस्थो वा ।'

२ ऋच्छति—प्राप्नोति । ३ गर्तम्—नरकम् । ४ प्रमीयते वा—क्षयमपि वेदोक्तमायुर्न प्राप्नोतीत्यर्थः ।

५ 'धीश्रीस्त्री म्' इत आरभ्य 'न हस न्' (पि० सू० १।८) इति सूत्र-पर्यन्तं संज्ञा-संज्ञिरूपेण भागद्वयमस्ति ।

६ उपरिष्टात्—अग्रे 'अष्टौ । वसवः' (पि० सू० १।१५) इति सूत्र-व्याख्यानानन्तरमित्यर्थः ।

छन्दःशास्त्र के प्रणेता भगवान् पिङ्गलाचार्य ने प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र [धी-श्री स्त्री म्] से अष्टम सूत्र [न हस न्] पर्यन्त आठ गणों के स्वरूप का निर्देश किया है और उन प्रत्येक सूत्रों में 'संज्ञा' और 'संज्ञि' इस प्रकार दो भाग हैं। जैसे कि–'धी श्री स्त्री म्' इस प्रथम सूत्र में 'धी, श्री, स्त्री'–यह संज्ञि और 'म' यह संज्ञा है। यहां पर 'धी श्री स्त्री' यह तीनों वर्ण गुरु-वर्ण के उपलक्षण हैं। सूत्रार्थ इस प्रकार है–जहाँ तीनों वर्ण गुरु हों उनकी 'मगण' संज्ञा होती है ॥१॥

वरा सा य् ॥ २ ॥

वरासा इत्यनेनादिलघोस्त्रिकस्य (।SS) 'य' इति संज्ञा परिभाष्यते। यप्रदेशाः 'भुजङ्गप्रयातं यः' (पि० सू० ६।३६) इत्येवमादयः ॥२॥

जिन तीन अक्षरों में प्रथम अक्षर लघु हो और मध्य एवं अन्त का अक्षर गुरु हो उन तीन वर्णों की 'यगण' संज्ञा होती है ॥२॥

का गुहा र् ॥ ३ ॥

कागुहा इत्यनेन मध्यलघोस्त्रिकस्य (S।S) 'र' इति संज्ञा परिभाष्यते। रप्रदेशाः 'स्रग्विणी रः' (पि० सू० ६।३७) इत्येवमादयः ॥३॥

जिन तीन वर्णों में मध्य का वर्ण लघु हो और आदि एवं अन्त का वर्ण गुरु हो उन तीन वर्णों की 'रगण' संज्ञा होती है ॥३॥

वसुधा स् ॥ ४ ॥

वसुधा इत्यनेनान्त्यगुरोस्त्रिकस्य (॥S) 'स' इति संज्ञा परिभाष्यते। सप्रदेशाः 'तोटकं सः' (पि० सू० ६।३१) इत्येवमादयः ॥ ४ ॥

जिन तीन वर्णों में अन्त का वर्ण गुरु हो और आदि एवं मध्य का वर्ण लघु हो उन तीन वर्णों की 'सगण' संज्ञा होती है ॥ ४ ॥

सा ते क त् ॥ ५ ॥

सातेक इत्यनेनान्त्यलघोस्त्रिकस्य (ऽऽ।) 'त' इति संज्ञात्वेनोपादीयते । तप्रदेशाः 'तनुमध्या त्यौ' (पि० सू० ६।२) इत्येवमादयः ॥ ५ ॥

जिन तीन वर्णों में अन्त्व का वर्ण लघु हो और आदि एवं मध्य का वर्ण गुरु हो उन तीन वर्णों की 'तगण' संज्ञा होती है ॥ ५ ॥

कदा स ज् ॥ ६ ॥

कदा स इत्यनेन मध्यगुरोस्त्रिकस्य (।ऽ।) 'ज' इति संज्ञा परिभाष्यते । जप्रदेशाः 'कुमारललिता ज्सौ ग्' (पि० सू० ६।३) इत्येवमादयः ॥ ६ ॥

जिन तीन वर्णों में मध्य का वर्ण गुरु हो और आदि एवं अन्त का वर्ण लघु हो उन तीन वर्णों की 'जगण' संज्ञा होती है ॥ ६ ॥

किं वद भ् ॥ ७ ॥

किंवद इत्यनेनादिगुरोस्त्रिकस्य (ऽ॥) 'भ' इति संज्ञा ज्ञाप्यते। भप्रदेशाः 'चित्रपदा भौ गौ' (पि० सू० ६।५) इत्येवमादयः ॥ ७ ॥

जिन तीन वर्णों मे आदि का वर्ण गुरु हो और मध्य एवं अन्त का वर्ण लघु हो उन तीन वर्णों की 'भगण' संज्ञा होती है ॥ ७ ॥

[1]न हस न् ॥ ८ ॥

नहस इत्यनेन सर्वलघोस्त्रिकस्य (।।।) 'न' इति संज्ञोपदिश्यते । नप्रदेशाः 'दण्डको नौ रः' (पि० सू० ७।३१) इत्येवमादयः ॥ ८ ॥

जिन तीन वर्णों में क्रमशः तीनों वर्ण लघु हों उनकी 'नगण' संज्ञा होती है ॥ ८ ॥

---

१ 'धी श्री स्त्री म्' इत्यारम्य 'न हस न्' इति सूत्रपर्यन्तं गणाष्टकस्य स्वरूपादिकम प्रदर्शितम्, तत्तु निम्नलिखितगणचक्रे ज्ञातव्यम् ।

गृ ल् ॥ ९ ॥

गृ इत्यनेनोपलक्षितस्य ह्रस्वस्य (।) 'ल' इति संज्ञा परिभाष्यते। लशब्दश्च लघुवाचकः। तेन ह्रस्वमक्षरं लघुसंज्ञं भवतीत्येवमर्थः प्रपद्यते। लप्रदेशाः 'लः समुद्रागणः' (पि० सू० ४।१२) इत्येवमादयः ॥ ९ ॥

ह्रस्व अक्षर लघु-संज्ञक होता है।

('गृ ल्' इस सूत्र में 'गृ' यह वर्ण एक ह्रस्व अक्षर का बोधक है, अतः उसकी लघु संज्ञा होती है) ॥ ९ ॥

ग्न्ते ॥ १० ॥

गृ-ग्रहणमनुवर्त्तते। गृ-शब्दोपलक्षितस्य ह्रस्वाक्षरस्य पादान्ते वर्त्तमानस्य गुरुसंज्ञातिदिश्यते। 'ग' इति प्रथमाक्षर—प्रतीकेन गुरुशब्दस्य ग्रहणम् ॥

ननु 'ग्लिति समानी' (पि० सू० ५।७) इत्यादीनां पादान्ते वर्त्तमानस्य ह्रस्वस्य गुरुत्वं न दृश्यते। नैष दोषः। सर्वत्र पादान्ते वर्त्तमानस्य ह्रस्वस्य गुरुत्वमुत्सर्गसिद्धम्। तच्च लका-

(गणचक्रम्)

संख्या	गणनाम।	गणस्वरूपम्।	गणदेवता।	गणफलम्।
(१)	मगणः	SSS	भूमिः	लक्ष्मीः
(२)	यगणः	ISS	जलम्	वृद्धिः (आयुः)
(३)	रगणः	SIS	अग्निः	दाहः
(४)	सगणः	IIS	वायुः	दूरगमनम्
(५)	तगणः	SSI	व्योम	शून्यम्
(६)	जगणः	ISI	सूर्यः	रोगः
(७)	भगणः	SII	चन्द्रः	यशः
(८)	नगणः	III	स्वर्गः	सुखम्

रघुत्वापवादेन बाध्यते । यथा—'ग्लिति समानी' (पि० सू० ५।७) 'गीत्यार्यां लः' (पि० सू० ४।४७) इत्यादौ । सामान्येन विशेषस्य बाधः कस्य न सम्मतः ? तस्मात् कुचोद्यमेतत् ॥

केचिदिदं सूत्रं व्यवस्थितविभाषया व्याचक्षते । 'ग्लिति प्रमाणी' (पि० सू० ५।८) इत्यादीनामन्ते गुरुत्वमेव, 'समानी' (पि० सू० ५।७) इत्यादीनामन्ते लघुत्वमेव । तस्मादियं व्यवस्था प्रमाणम् । शेषाणामिच्छया गुरुत्वं लघुत्वं चेति, तदनुपपन्नम्, विकल्पस्याप्रस्तुतत्वात्कस्य व्यवस्थेति न विद्मः ॥

ननु [1]केनाप्युक्तम् 'वा पादान्ते त्वसौ वक्रः' (वृ. र. १।६) इति गुरुत्वम् । सत्यमुक्तम्, दुरुक्तं हि तत् । "वान्ते ग्वक्र इति प्रोक्तं यैस्तु [2]श्वेतपटादिभिः। उत्सर्गस्यापवादेन बाधस्तैर्नावधारितः॥" इत्युक्तेः इच्छया गुरुत्वं लघुत्वञ्च नोपपद्यते । कस्येच्छा ? किं शास्त्रकारस्य ? कवेर्वा ? । न तावदाद्यः पक्षः, सूत्रेष्वदर्शनात् । नापि द्वितीयः, कवेरपीच्छायां व्यवस्थाभावात् । को जानाति कस्य कीदृशीच्छेति ॥

अन्ये त्वाहुः—ननु पादान्ते वर्त्तमानस्य ह्रस्वस्य पाणिनिना गुरुसंज्ञा न कृता । तेनोक्तम् 'संयोगे गुरु' (पा० सू० १।४।११), 'दीर्घं च' (पा० सू० १।४।१२) इति । नायं संयोगादिर्न च दीर्घः । तस्मात 'गन्ते' इति सूत्रमयुक्तम् ॥

अत्रोच्यते—पाणिनिना स्वशास्त्रप्रयोजनार्थं गुरुसंज्ञा कृता । 'गुरोश्च हलः' (पा० सू० ३।३।१०३) इत्यकारप्रत्ययो यथा स्यात्—कुण्डा, हुण्डेत्यादौ, ईहाञ्चक्रे, ऊहाञ्चक्रे, इत्येवमादिषु 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (पा० सू० ३।१।३६) इत्याम् प्रत्य-

१ केनापि—जैनविशेषेण ।

२ श्वेतपटादिभिः—जैनादिभिरित्यर्थः । श्वेतपटादिभिरित्यत्र आदिशब्देन श्रुतबोधवृत्तरत्नाकरादीनां ग्रहणम् ।

यश्च। पादान्ते वर्त्तमानस्य लघोर्गुरुत्वातिदेशे पाणिनेः प्रयोजनमेव नास्ति। किञ्चानुस्वारादिपूर्वस्य वर्णस्य 'वलम्' 'संपदि'त्यादौ स्थितस्य गुरुसंज्ञा पाणिनिना न कृता, किमेतावताऽन्यैरपि न कर्त्तव्या ?। तस्मात्सूत्रमिदम् 'गन्ते' इति। गप्रदेशाः 'गावन्त आपीडः' (पि० सू० ५।२२) इत्येवमादयः॥ १०॥

पाद के अन्त में वर्त्तमान ह्रस्व अक्षर की गुरु संज्ञा होती है॥ १०॥

ध्रादिपरः॥ ११॥

ध्र इति व्यञ्जनसंयोगस्योपलक्षणार्थमेतत्। ध्र आदिर्येषां ते ध्रादयः। आदिशब्देन विसर्जनीयानुस्वारजिह्वामूलीयोपध्मानीयानां ग्रहणम्। ध्रादयः परे यस्मात्स ध्रादिपरः। ततश्चाय सूत्रार्थः—व्यञ्जनसंयोगात्पूर्वस्य ह्रस्वस्यानुस्वारविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयेभ्यश्च गुरुसंज्ञातिदिश्यते॥ ११॥

संयुक्त व्यञ्जन से एवं अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय इन वर्णों से पूर्व लघुवर्ण की गुरु संज्ञा होती है।

('ध्रादिपरः' इस सूत्र में 'ध्र' यह संयुक्त व्यञ्जन-मात्र का बोधक है और 'आदि' पद से अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का ग्रहण होता है।)॥ ११॥

हे॥ १२॥

ग इत्यनुवर्त्तते। हे इति द्विमात्रोपलक्षणार्थम्। ततश्चायं सूत्रार्थः—द्विमात्रिकस्य दीर्घस्य 'ग' इति संज्ञा क्रियते॥ १२॥

द्विमात्रिक दीर्घ वर्ण की गुरु संज्ञा होती है॥ १२॥

लौ सः॥ १३॥

स इति गकारस्य परामर्शः। स गकारो द्विमात्रो द्वौ लघू कृत्वा गणयितव्यः॥ १३॥

पूर्वोक्त द्विमात्रिक गुरु-संज्ञक वर्ण की दो लघु वर्ण की तरह गणना करनी चाहिये ॥ १३ ॥

[1]ग्लौ ॥ १४ ॥

अधिकारोऽयमाशास्त्रपरिसमाप्तेः । यत्र विशेषान्तरं न श्रूयते तत्र 'ग्लौ' इत्युपतिष्ठते, 'गायत्र्या वसवः' (पि०सू०३।३) इत्येवमादिवत् । प्लुतेनेह व्यवहारो नास्ति ॥ १४ ॥

छन्दःशास्त्र की समाप्ति पर्यन्त 'ग्लौ' इस सूत्र का अधिकार रहेगा अर्थात् जहाँ पर विशेष विधि का श्रवण न होगा वहाँ पर 'ग्लौ' (गुरु और लघु) का अधिकार होगा ॥ १४ ॥

अष्टौ वसव इति ॥ १५ ॥

अत्र शास्त्रे वसव इत्युच्यमानेऽष्टसंख्योपलक्षिता गुरुलघुस्वरूपा वर्णा गृह्यन्ते । लौकिकप्रसिद्ध्युपलक्षणार्थमिदं सूत्रम् । तेन चतुर्णां समुद्राः, पञ्चानामिन्द्रियाणि, इत्येवमादयः संज्ञाविशेषा लौकिकेभ्यः प्रत्येतव्याः । इतिकारोऽध्यायसमाप्तिसूचकः ॥

इह ध्यादीनामुपादानप्रयोजनं वर्ण्यते—अध्ययनाद्धीर्भवति । यस्य धीस्तस्य श्रीः, बुद्धिपूर्वकत्वाद्विभूतेः । यस्य श्रीस्तस्य स्त्री, अर्थमूलकत्वाद्गार्हस्थ्यस्य । 'वरा सा' इत्यनेन सर्वेषां स्त्रीसाधनोपायानां बुद्धेरुपायस्य माहात्म्यं दर्शयति । तथा चोक्तम्—

"अर्धाङ्गुलपद्वीणाहजिह्वाग्रायासभीरवः ।
सर्वाङ्गीणपरिक्लेशमबुधाः कर्म कुर्वते ॥"

तत्राह शिष्यः-'का गुहा'? गुहाशब्दः स्थानवाचकः । का गुहा यत्रासौ तिष्ठति? उपाध्यायो ब्रूते-'वसुधा' । पृथिव्यां

[1] ग्लौ-गश्च लश्च तौ, पूर्वोक्तौ गुरुलघू इत्यर्थः । इतः परमस्मिन् शास्त्रे यत्र विशेषविधिर्नास्ति, तत्र 'ग्लौ' इति अधिकृतौ ज्ञातव्यौ ।

लभ्यते धीर्नात्र विवादः कर्त्तव्यः। पुनरप्याह शिष्यः-'सा ते क? सा धीस्त्वयोपदिष्टा पृथिव्यां काश्रयस्थितेन लभ्यते?। तत्र पुनराचार्य आह—'गृहे'। पुनरप्याह शिष्यः—'कदा सः' स गृहस्थः पुरुषः कदा कस्मिन्काले तां धियं प्राप्नोति?। तत्रोत्तरं गुरुराह—'ध्रादिपरः' धारणार्थावबोधपरोऽसौ यदा स्यात्तदा धियं लभते। भूयोऽपि शिष्यः पृच्छति—'किं वद' किं कुर्वन्नसौ तां धियं लभते? तद्वद। तत्राह गुरुः—'न हसन्' हासादिचापल्यमकुर्वाणस्तां धियं लभत इत्यर्थः॥ १५॥

इति भट्टहलायुधकृतायां छन्दोवृत्तौ प्रथमोऽध्यायः।

छन्दःशास्त्र में 'वसु' शब्द से आठ संख्या का ग्रहण करना चाहिये॥ १५॥

इति श्रीमद्वेणीरामशर्मकृतायां प्रेमानुभूतौ प्रथमोऽध्यायः।

द्वितीयोऽध्यायः।

अथ छन्दोऽधिकारः—

छन्दः॥ १॥

अधिकारोऽयमाशास्त्रपरिसमाप्तेः। इत ऊर्ध्वं यद्वक्ष्याम-श्छन्दस्तत्रोपतिष्ठते। छन्दःशब्देनाक्षरसंख्यावच्छेन्दोऽत्राभिधीयते॥ १॥

---

१२ छन्दः—छादयति सन्तापं वारयतीति छन्दः। तथा च निरुक्ते-'छन्दांसि छादनात्' (७।१२)। छन्दः शब्द एकः सान्तः क्लीवः, अपरः आदन्तः पुल्लिङ्गः। तत्र गायत्री-त्रिष्टुब्-जगत्यादितात्पर्येण प्रयुज्यमानः प्रथमः। यथा—

'छन्दः पादौ तु वेदस्य' (पाणिनीयशिक्षायाम्)
'गायत्री छन्दसां माता' (आह्निकसूत्रावल्याम्)

छन्दःशास्त्र की समाप्ति पर्यन्त 'छन्दः' इस का अधिकार रहेगा ॥ १ ॥

अथ गायत्र्यधिकारः—

[1]गायत्री ॥ २ ॥

अधिकारोऽयमा द्वादशसूत्रपरिसमाप्तेः । 'तान्युष्णिग्—' (पि० सू० २।१४) इत्यादिसूत्रात्प्राग्यदुच्यते छन्दस्तद्गायत्रीसंज्ञं वेदितव्यम् ॥ २ ॥

'गायत्री' इस सूत्र से 'जह्यादासुरी' (२।१३) इस सूत्र पर्यन्त गायत्री छन्द का अधिकार रहेगा ॥ २ ॥

दैवीगायत्रीलक्षणमाह—

दैव्येकम् ॥ ३ ॥

[2]एकाक्षरं छन्दो दैवी गायत्रीति संज्ञायते । तत्रायं प्रदर्श-

---

'ककुप्छन्दः' (रुद्राष्टाध्याय्याम्)
गायत्री छन्दसामहम् । (गीतायाम्)
'गायत्री छन्दसां प्रथमा' (शतपथब्राह्मणे)
'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' (इति शाब्दिकाः)

आशयादितात्पर्यके प्रयुज्यमानो द्वितीयः । यथा—

'छन्दोऽभिप्राय आशयः' (इत्यमरः)
'मूर्खं छन्दानुरोधेन' (इति नीतिः)
'स्वच्छन्दो जनः' (इति लौकिकाः)

एवं च पिङ्गलादिछन्दोग्रन्थेषु प्रयुज्यमानः प्रथम एवादरणीय इति संक्षेपः ।

१ गायत्री—गायन्तं त्रायते पालयति च या सा गायत्री ।

दैवतब्राह्मणे (३।२)— गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः । तथा च निरुक्ते ७।१२—गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः । स्मार्त्तनिर्वचने तु–'गातारं त्रायते यस्मात् गायत्री तेन सा स्मृता ।'

२ एकाक्षरमिति—एकाक्षरं छन्दः वेदे दैवी गायत्री नाम भवतीत्यर्थः । उदाहरणं यथा–"ओम्" इति । एकाक्षरत्वादियं दैवी गायत्रीति ।

नोपायः—[1]'चतुरङ्गक्रीडायामिव चतुःषष्टिकोष्ठान् लिखित्वा। (प्रथमपङ्क्तौ आर्षीनाम लिखित्वा द्वितीयादिकोष्ठेष्वङ्कानामुपरि गायत्र्यादिसप्तच्छन्दसां नामानि विन्यसेत् ।) तत्र द्वितीयायां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे दैवीशब्दं विन्यसेत्, संज्ञाज्ञापनार्थम् । द्वितीये एक (१) संख्याकमङ्कं विन्यसेत् ॥ ३ ॥

एक अक्षरवाले छन्द को 'दैवी गायत्री' कहते हैं ॥ ३ ॥

आसुरीगायत्रीलक्षणमाह—

आसुरी पञ्चदश ॥ ४ ॥

[2]आसुरी गायत्री पञ्चदशाक्षरा । तानि चाक्षराणि 'ग्लौ' (पि० सू० १।१४) इत्यधिकाराद्गुरूणि लघूनि च यथासम्भवं द्रष्टव्यानि । अत्र तृतीयायां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे आसुरीशब्दं व्यवस्थाप्य द्वितीये कोष्ठे पञ्चदश (१५) संख्याङ्कं लिखेत् ॥ ४ ॥

पन्द्रह अक्षर वाले छन्द को 'आसुरी गायत्री' कहते हैं ॥ ४ ॥

प्राजापत्यागायत्रीलक्षणमाह—

प्राजापत्याष्टौ ॥ ५ ॥

[3]प्राजापत्या गायत्र्यष्टाक्षरा भवति । यत्र कचिद्वेदेऽष्टाक्षरं

---

१ चतुरङ्गेत्यादि—चतुरङ्गक्रीडायां 'शतरञ्ज' इति प्रसिद्धायां क्रीडायामित्यर्थः । चतुरङ्गक्रीडायां यथा चतुःषष्टिकोष्ठान् निर्माय क्रीडति जनस्तथैव चतुःषष्टिकोष्ठान् विधाय तत्राङ्कान् विन्यसेत् । चतुःषष्टिकोष्ठलेखनप्रकारस्तु पिङ्गलच्छन्दसूत्रस्य द्वितीयाध्यायसमाप्तौ स्वयमेव वृत्तिकारेण हलायुधभट्टेन प्रदर्शित इति विशेषजिज्ञासुभिस्तत एवावगन्तव्यम् ।

२ पञ्चदशाक्षरा गायत्री आसुरी भवेदित्यर्थः । उदाहरणं यथा—"आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् ।" (तैत्ति० आ० १०।२७)

३ अष्टाक्षरं छन्दः वेदे प्राजापत्या गायत्रीति ज्ञेयम् । उदाहरणद्वयं यथा—(१) "ऋतꣳ सत्यमृतꣳ सत्यम्" (शु० य० ११।४७)

(२) "अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः" (शु० य० ३।९)

छन्दस्तत्प्राजापत्या गायत्रीति ज्ञेयम् । चतुर्थ्यामत्र पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे प्राजापत्याशब्दं लिखित्वा द्वितीयेऽष्ट (८) संख्याङ्कं लिखेत् ॥ ५ ॥

आठ अक्षर वाले छन्द को 'प्राजापत्या गायत्री' कहते हैं ॥ ५ ॥

याजुषीगायत्रीलक्षणमाह—

यजुषां षट् ॥ ६ ॥

[1]यजुषां गायत्री षडक्षरा भवति । यत्र क्वचिद्वेदे षडक्षरं छन्दस्तद्याजुषी गायत्रीति संज्ञायते । अत्र पञ्चम्यां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे याजुषीशब्दं व्यवस्थाप्य द्वितीये षट् (६)—संख्याङ्कं लिखेत् ॥ ६ ॥

छ अक्षर वाले छन्द को 'याजुषी गायत्री' कहते हैं ॥ ६ ॥

साम्नीगायत्रीलक्षणमाह—

साम्नां द्विः ॥ ७ ॥

[2]षडित्यनुवर्तते । द्विरिति क्रियाभ्यावृत्तिदर्शनात्करोतिरध्याह्रियते । द्वादशाक्षरेत्यभ्यावृत्त्या क्रियते । तेन द्विःकृता द्विगुणिता षट्संख्या साम्नी गायत्री भवति । यत्र क्वचिद्वेदे द्वादशाक्षरं छन्दः तत्साम्नां गायत्रीति संज्ञायते । अत्र षष्ठ्यां पङ्क्तौ

---

१ षडक्षरा गायत्री याजुषीसंज्ञां लभते । उदाहरणद्वयं यथा—

(१) "अश्विभ्यां पच्यस्व ।" (शु० य० १९।१)

(२) "वर्षवृद्धमसि" (शु० य० १।१६)

२ 'साम्नां द्वादश' (१६।१२) इति ऋक्प्रातिशाख्यसूत्रेण 'साम्नां स्याद् द्वादशाक्षरा' (२।२) इति आग्नेयच्छन्दःसारवचनेन च सामगायत्र्या द्वादशाक्षरत्वं बोध्यम् । अतः द्वादशाक्षरा गायत्री सामगायत्रीसंज्ञां भजते । उदाहरणं यथा—"अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः ।"

(शु० य० ११।४७)

प्रथमे कोष्ठे सामशब्दं लिखित्वा द्वितीये द्वादश (१२) संख्याङ्कं लिखेत् ॥ ७ ॥

बारह अक्षर वाले छन्द को 'साम्नी गायत्री' कहते हैं—"साम्नां द्वादश" (ऋ० प्रा० १६।१२) ॥ ७ ॥

आर्चीगायत्रीलक्षणमाह—

ऋचां त्रिः ॥ ८ ॥

[1]षडित्यनुवर्त्तते। अत्रापि पूर्ववत् क्रियाभ्यावृत्तिः, तेन द्विगुणा षट्संख्या ऋचां गायत्री भवति। यत्र क्वचिद्वेदेऽष्टादशाक्षरं छन्दस्तदृचां गायत्री ज्ञेया। अत्र सप्तम्यां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे ऋक्शब्दं व्यवस्थाप्य द्वितीयेऽष्टादश (१८) संख्याङ्कं लिखेत् ॥ ८ ॥

अठारह अक्षर वाले छन्द को 'आर्ची गायत्री' कहते हैं—"ऋचां त्रिषट्" (ऋ० प्रा० १६। १२) ॥ ८ ॥

सामोष्णिगादीनां स्वरूपनिर्णयार्थमाह—

द्वौ द्वौ साम्नां वर्धेत ॥ ९ ॥

[2]गायत्रीत्यनुवर्तते। साम्नां पङ्क्तौ गायत्र्या द्वौ द्वौ संख्याङ्कौ

---

१ अष्टादशाक्षरा गायत्री आर्ची भवतीत्यर्थः। उदाहरणं यथा—"वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेणच्छन्दसाङ्गिरस्वत्" (शु० य० ११।६०)

२ 'साम्नां द्विः' (पि० सू० २।७) इत्यनेन सूत्रेण सामगायत्रीलक्षणमुक्त्वा सामोष्णिगादीनां स्वरूपनिर्णयार्थमाह-द्वाविति। सामोष्णिगादिषु द्वौ द्वौ कृत्वा क्रमेणोत्तरोत्तरमङ्कानि वर्धितव्यानि। यथा चतुर्दशाक्षरा सामोष्णिक्, षोडशाक्षरा सामानुष्टुबित्यादयो ज्ञेयाः। इदानीं सामोष्णिगादीनामुदाहरणानि प्रदर्श्यन्ते। तत्र सामोष्णिक् यथा—

"नमो वः किरिकेभ्यो देवानां हृदयेभ्यः" (शु० य० १६। ४६)

गृहीत्वा पूर्वात् पूर्वादर्धेन यावदष्टमं कोष्ठं प्राप्नोति । अत्र साम्नां पङ्क्तौ तृतीयादिषु कोष्ठेषु क्रमेण वर्धितान्यक्षराण्यङ्केन विन्यसेत् ॥ ६ ॥

सामगायत्री में उत्तरोत्तर क्रमशः दो दो अङ्क की वृद्धि होती है । (जैसे—बारह अक्षर की सामगायत्री होती है उसमें दो अङ्क बढ़ा देने से वह सामोष्णिक छन्द हो जाता है । इसी प्रकार सामानुष्टुबादि में भी समझना चाहिये ।) ॥ ९ ॥

आर्च्युष्णिगादीनां स्वरूपं निरूपणमाह—

त्रींस्त्रीनृचाम् ॥ १० ॥

गायत्रीत्यनुवर्तते । ऋचां गायत्री त्रींस्त्रीन् संख्याङ्कान्

सामानुष्टुप् यथा—

"अहः केतुना जुषताᳪ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा" (शु०य० ३७।२१)

सामबृहती यथा—

"रक्षोहणौ वां बलगहना ऽउपदधामि वैष्णवी "(शु०य० ५ । २५)

सामपङ्क्तिर्यथा—

"एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राऽम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा"(शु०य०३।५७)

सामत्रिष्टुप् यथा—

"उपयाम गृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे" (शु० य० २० । ३३)

सामजगती यथा—

"विश्वे त्वा देवा वैश्वा नरा धूपयन्त्वानुष्टुभेनच्छन्दसाङ्गिरस्वत्" (शु० य० ११ । ६०)

१ त्रीनिति । अत्र अष्टादशाक्षराया आर्च्या तृतीयादिकोष्ठेषु उत्तरोत्तरं त्रिव्यङ्कवृद्धया एकविंशत्यक्षरा आर्च्युष्णिगादयो बोद्धव्याः । इदानीं आर्च्युष्णिगादीनामुदाहरणानि प्रदर्श्यन्ते । तत्र आर्च्युष्णिक् यथा—"देवा ऽआशापाला ऽएतं देवेभ्योऽश्वं मेधाय प्रोक्षितं रक्षत" (शु० य० २२।१९)

गृहीत्वा पूर्ववद्वर्धेत। अत्राप्यृचां पङ्क्तौ तृतीयादिषु कोष्ठेषु त्रि(३)संख्याङ्कक्रमेण वृद्धमङ्कं स्थापयेत् ॥ १० ॥

आर्ची गायत्री में उत्तरोत्तर क्रमशः तीन-तीन अङ्कों की वृद्धि होती है। (जैसे—अठारह अक्षर की आर्ची गायत्री होती है उसमें तीन अङ्क बढ़ा देने से वह आर्च्युष्णिक् छन्द हो जाता है। इसी प्रकार आर्च्यनुष्टुबादि में भी समझना चाहिये।) ॥ १० ॥

प्राजापत्योष्णिगादीनां स्वरूपं प्रदर्शयति—

चतुरश्चतुरः प्राजापत्यायाः ॥ ११ ॥

[1]प्राजापत्यायाः पङ्क्तौ गायत्री चतुरश्चतुरः संख्याङ्कान् गृहीत्वा वर्धेत। अत्रापि तृतीयादिषु कोष्ठेषु विन्यासः पूर्ववदेव ॥ ११ ॥

आर्च्यनुष्टुप् यथा—

"रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेनच्छन्दसाङ्गिरस्वद्ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि"

(शु० य० ११। ५८)

आर्चीबृहती यथा—

"वरूत्रीष्ट्वा देवीर्व्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे ऽअङ्गिरस्वच्छ्रपयन्तूखे।"

(शु० य० ११। ६१)

आर्चीपङ्क्तिर्यथा—

"जनयस्त्वाच्छिन्नपत्रा देवीर्व्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे ऽअङ्गिरस्वत् पचन्तूखे" (शु० य० ११। ६१)

आर्चीत्रिष्टुप् यथा—

"अभि त्यं देवꣳ सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्च्चामि सत्यसवꣳ रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्" (शु० य० ४। २५)

आर्चीजगती यथा—

"बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय त्वग्दात्र ऽएधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे" (शु० य० ७। ४७)

१ चतुर इति। अत्राष्टाक्षरात्मिकायाः प्राजापत्यागायत्र्यास्तृतीयादिकोष्ठेषु

प्राजापत्या गायत्री में उत्तरोत्तर क्रमशः चार-चार अङ्क की वृद्धि होती है। जैसे—आठ अक्षर की प्राजापत्या गायत्री होती है उसमें चार अङ्क बढ़ा देने से वह प्राजापत्या उष्णिक् छन्द हो जाता है। इसी प्रकार प्राजापत्यानुष्टुबादि में भी समझना चाहिये ॥ ११ ॥

दैवीनां याजुषीणाञ्चोष्णिगादीनां स्वरूपं प्रतिपादयितुमाह—

[1]एकैकं शेषे ॥ १२ ॥

[2]अनुक्तः शेषः। यत्र गायत्र्यां संख्यावृद्धिर्नोक्ता सैकैकं

उत्तरोत्तरं चतुश्चतुरङ्कवृद्ध्या द्वादशाक्षरा प्राजापत्योष्णिगादयो ज्ञातव्याः। इदानीं प्राजापत्योष्णिगादीनामुदाहरणानि प्रदर्श्यन्ते। तत्र प्राजापत्योष्णिक् यथा—

"सुगव्यं नो व्वाजी स्वश्व्यं पुꣳसः पुत्रान्" (शु० य० २५।४५)

प्राजापत्यानुष्टुप् यथा—

"तेजोऽसि शुक्रममृतमायुष्पा ऽआयुर्म्मे पाहि" (शु० य० २२।१)

प्राजापत्याबृहती यथा—

"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्"
(शु० य० २०।३)

प्राजापत्यापङ्क्तिर्यथा—

"होता यक्षदश्विनौ च्छागस्य व्वपाया मेदसो जुषेताꣳ हविर्होतर्यज"
(शु० य० २१।४१)

प्राजापत्यात्रिष्टुप् यथा—

"देवानां त्वा पत्नीर्देवीर्व्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे ऽअङ्गिरस्वद्दधतूखे" (शु० य० ११।६१)

प्राजापत्याजगती यथा—

"अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन् पक्तीः पचन् पुरोडाशं बध्नन्निन्द्राय च्छागम्" (शु० य० २८।२३)

१ 'एकैकं शेषे' इति सूत्रेणैकेनैव दैवीनां याजुषीणाञ्चोष्णिगादीनामक्षरसंख्यां दर्शयति। तत्र पूर्वं दैव्युष्णिगादीनां संख्यास्वरूपं प्रदर्श्यते।

२ एकाक्षराया दैव्याः गायत्र्यास्तृतीयादिकोष्ठेषु उत्तरोत्तरमेकैकाङ्कवर्द्धनेन

संख्याङ्कं गृहीत्वा वर्धेत। दैवी याजुषी च शेषशब्देनोच्यते आसुर्या विशेषाभिधानात्। तेन दैवी तृतीयादिषु कोष्ठेषु क्रमेणैकैकमक्षरं गृहीत्वा वर्धेत। तथैव याजुषी ॥ १२ ॥

द्यक्षरा दैव्युष्णिगादयो ज्ञातव्याः। इदानीं दैव्युष्णिगादीनामुदाहरणानि च प्रदर्श्यन्ते। तत्र दैव्युष्णिक् यथा—

"मधु मधु मधु" [शु० य० ३७।१३] [द्यक्षरत्रिपादरूपेयमिति]

दैव्यनुष्टुप् यथा—"इषे त्वा ऊर्ज्जे त्वा" (शु० य० १।१) [द्यक्षरपादत्वादियं दैव्यनुष्टुप्]

दैवीबृहती यथा—

"नृषदे व्वेट्" (शु० य० १७।१२)

दैवीपङ्क्तिर्यथा—

"अप्सुषदे व्वेट्" (शु० य० १७।१२)

दैवीत्रिष्टुप् यथा—

"इन्द्रस्य ध्रुवोऽसि" (शु० य० ५।३०)

दैवीजगती यथा—

"दिवः संꣳस्पृशस्पाहि" (शु० य० ३७।१३)

दैव्युष्णिगादीनामुदाहरणानि उक्त्वा, अधुना याजुष्युष्णिगादीनाञ्च संख्यास्वरूपं प्रदर्श्यते—

षडक्षराया याजुष्या गायत्र्यास्तृतीयादिकोष्ठेषु उत्तरोत्तरमेकैकाङ्कवर्द्धनेन सप्ताक्षरा याजुष्युष्णिगादयो बोद्धव्याः।

इदानीं याजुष्युष्णिगादीनामुदाहरणानि च प्रदर्श्यन्ते। तत्र याजुष्युष्णिक् यथा--

"इन्द्रस्त्वा धूपयतु" (शु० य० ११।६०)

याजुष्यनुष्टुप् यथा--

"व्वरुणस्त्वा धूपयतु" (शु० य० ११।६०)

याजुषीबृहती यथा-

"इन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व" (शु० य० १६।१)

जिस गायत्री में अङ्क की संख्या वृद्धि नहीं कही गयी है उसमें उत्तरोत्तर क्रमशः एक-एक संख्या की वृद्धि होती है।

('एकैकं शेषे' इस सूत्र में 'शेष' शब्द से दैवी और याजुषी गायत्री का ग्रहण करना चाहिये।

दैवी गायत्री—एक अक्षर की दैवी गायत्री होती है उसमें एक अङ्क बढ़ा देने से वह दैव्युष्णिक् छन्द हो जाता है। इसी प्रकार दैव्यनुष्टु-बादि में भी समझना चाहिये।

याजुषी गायत्री—छ अक्षर की याजुषी गायत्री होती है उसमें एक अङ्क बढ़ा देने से वह याजुष्युष्णिक् छन्द हो जाता है। इसी प्रकार याजुष्यनुष्टुबादि में भी समझना चाहिये) ॥ १२ ॥

आसुर्युष्णिगादीनां विशेषविधिमाह—

जह्यादासुरी ॥ १३ ॥

[1]एकैकमित्यनुवर्तते। आसुरी गायत्री एकैकमक्षरं त्यजेत्।

याजुषीपङ्क्तिर्यथा—
"स्वाहा मरुद्भिः परि श्रीयस्व" (शु० य० ३७।१३)

याजुषीत्रिष्टुप् यथा—
"नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये" (शु० य० १६।१७)

याजुषीजगती यथा—
"नमः शिवाय च शिवतराय च" (शु० य० १६।४१)

१ पञ्चदशाक्षराया आसुरीगायत्र्यास्तृतीयादिकोष्ठेषु उत्तरोत्तरमेकैकाक्षर-ह्रासेन चतुर्दशाक्षरा आसुर्युष्णिगादयो ज्ञेयाः। इदानीमासुर्युष्णिगादीना-मुदाहरणानि च प्रदर्श्यन्ते। तत्रासुर्युष्णिक् यथा—

"चित स्थ परिचित ऽऊर्ध्वचितः श्रयध्वम्" (शु० य० १२।१६)

आसुर्यनुष्टुप् यथा—
"ऋत सꣳसदो ऽष्टमी भूतसाधनी" शु० य० (२६।१)

आसुरीबृहती यथा—
"इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते" (शु० य० ६।३२)

उत्तरेषु कोष्ठेषु वृद्धौ प्राप्तायां ह्रासो विधीयते । तेऽङ्काः क्रमेण स्थाप्याः ॥ १३ ॥

आसुरी गायत्री में उत्तरोत्तर क्रमशः एक एक संख्या का ह्रास (अल्प) करना चाहिये । जैसे—पन्द्रह अक्षर की आसुरी गायत्री होती है उसमें एक अङ्क घटा देने से वह आसुर्युष्णिक् छन्द हो जाता है। इसी प्रकार आसुर्यनुष्टुबादि में भी समझना चाहिये ॥ १३ ॥

उष्णिगादीनां छन्दसां नामप्रदर्शनार्थमाह--

[1]तान्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यः ॥ १४ ॥

[2]तानि छन्दांसि गायत्र्याः पुरस्तात् उष्णिग्-अनुष्टुब्-बृहती-पङ्क्ति-त्रिष्टुब्-जगत्याख्यानि क्रमेण भवन्ति ॥ १४ ॥

वैदिक सात छन्दों में से सूत्रकार ने सर्वप्रथम 'गायत्री' (पि० सू०

आसुरीपङ्क्तिर्यथा

"अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसि" शु० य० १२।४६)

आसुरीत्रिष्टुप् यथा --

"मयि ते कामधरणं भूयात्" (शु० य० १२।४६)

आसुरीजगती यथा

"अग्नये त्वा रायस्पोषदे" (शु० य ६।३२)

१ वैदिकसप्तच्छन्दःसु पूर्वं 'गायत्री' (पि०सू० २।२) इति सूत्रेण केवलं गायत्र्या एव उल्लेखः कृतः, न तु उष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगतीनां षण्णाम्, अतस्तत्प्रदर्शनार्थमाह तानीति ।

२ तानि गायत्र्या अनन्तरं तृतीयादिकोष्ठेषु येषामङ्कह्रासवृद्धय उक्तास्तानि छन्दांसीत्यर्थः, गायत्रीप्रभृतिकं सप्त वैदिकं छन्द इति तात्पर्यः । वैदिकसप्तच्छन्दसां नामानि तु ऋक्प्रातिशाख्येऽपि वर्त्तन्ते यथा—

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती च प्रजापतेः ।
पङ्क्तिस्त्रिष्टुब्जगती च सप्तच्छन्दांसि तानि ह ॥ (१६।१)

२।२) इस सूत्र से केवल गायत्री छन्द का ही उल्लेख किया है, अब वह यहाँ अवशिष्ट छ छन्दों का नामोल्लेख करते हैं, यथा—

उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती ॥ १४ ॥

'दैव्येकम्' इत्यादिभिरेकादशसूत्रैः गायत्र्याद्याख्यानां सप्तच्छन्दसां दैव्यादिषड्भेदान् निरूप्य भेदान्तरं प्रदर्शयितुमाह—

तिस्रस्तिस्रः सनाम्न्य एकैका ब्राह्मः ॥ १५ ॥

'याजुषीं पङ्क्तिमारभ्य तिस्रो याजुषी, साम्नी, आर्ची चेति

---

१ याजुषीं पङ्क्तिमारभ्य तिसृणां गायत्रीणाम्, अर्थात् याजुषी, साम्नी, आर्ची,—इति त्रिविधगायत्रीणां षड्-द्वादश-अष्टादशाक्षरात्मिकानां परस्परसम्मेलनेन षट्त्रिंशदक्षरा एका ब्राह्मी गायत्री भवति। एवं याजुष्यादित्रिविधत्रिविधानामुष्णिगादीनां जगतीपर्यन्तानां समष्टिसंख्यायाः सम्मेलनेन द्वाचत्वारिंशदक्षरा एका ब्राह्म्युष्णिक् भवति। अष्टचत्वारिंशदक्षरा एका ब्राह्म्यनुष्टुप् भवति। चतुःपञ्चाशदशक्षरा एका ब्राह्मी बृहती भवति। एवं जगतीपर्यन्तमेष एव क्रमोऽनुसरणीयः। इदीनीं ब्राह्म्युष्णिगादीनामुदाहरणानि च प्रदर्श्यन्ते। तत्र ब्राह्मीगायत्री यथा—

"अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन् पक्तीः ।
पचन् पुरोडाशं बध्नन्निन्द्राय व्वयोधसे च्छागम् ॥"
(शु० य० २८।४६)

ब्राह्म्युष्णिक् यथा—

"होता यक्षदिडाभिरिन्द्रमीडितमाजुह्वानममर्त्यम् ।
देवो देवैः सवीर्य्यो व्वज्रहस्तः पुरन्दरो व्वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥"
(शु० य० २८।३)

ब्राह्म्यनुष्टुप् यथा—

"होता यक्षत्तिस्रो देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपसऽ इडा सरस्वती भारती महीः ।
इन्द्रपत्नीर्हविष्मतीर्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥" (शु० य० २८।८)

ब्राह्मीबृहती यथा—

"देवी जोष्ट्री व्वसुधिती देवमिन्द्रं व्वयो धसं देवी देवमवर्द्धताम् ।

गायत्र्यो मिलिता एका षट्त्रिंशदक्षरा ब्राह्मी गायत्री भवति। सनाम्न्य इत्येकसंज्ञा इत्यर्थः। तिस्रस्तिस्र इति वीप्सया परे- षामुष्णिगादीनामिह ग्रहणम् । तथैकैकेति वीप्सया ता एव ब्राह्म्यो भवन्तीति विधीयते । ब्राह्म्य इति गायत्र्यादीनां जगतीपर्यन्तानां विशेषणम् । एवं याजुषी, साम्नी, आर्ची चोष्णिङ्मिलिता एकीकृता द्वाचत्वारिंशदक्षरा ब्राह्म्युष्णि- ग्भवति। एवं तिस्रोऽनुष्टुभः संगताः सत्योऽष्टाचत्वारिंशद- क्षरैका ब्राह्म्यनुष्टुब् भवति। ता एव तिस्रो बृहत्यः संगताः सत्यश्चतुःपञ्चाशदक्षरा एका ब्राह्मी बृहती भवति। ता एव तिस्रः पङ्क्तयः संगताः षष्ट्यक्षरा एका ब्राह्मी पङ्क्तिर्भवति।

बृहत्या च्छन्दसेन्द्रियं श्रोत्रमिन्द्रे व्वयो दधद्वसुवने व्वसुधेयस्य व्वीता यज ॥"
(शु० य० २८ । ३८)

ब्राह्मीपङ्क्तिर्यथा—

"देवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये व्वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नोऽअसद्वशे। ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा॥"
(शु य० (४ । ११)

ब्राह्मीत्रिष्टुप् यथा—

"तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥"
(शु० य० ३६ । २४)

ब्राह्मीजगती यथा—

"अवर्मह इन्द्र दादृहि श्रुधी नः शुशोच हि द्यौः क्षा न भीषां अद्रिवो घृणां न भीषां अद्रिवः । शुष्मिन्तमो हि शुष्मिभिर्वधैरुग्रेभिरीयसे । अपूरुषघ्नो अप्रतीत शूर सत्वभिस्त्रिसप्तैः शूर सत्वभिः ॥" (ऋग्वेद, २ अष्ट० १ अ० १ म० १६ अनु० १३३ सू० ६ ऋ०) (मन्त्रेऽस्मिन् 'द्यौः' इत्यत्र 'दियौः', 'अप्रतीत' इत्यत्र 'अप्रति इति' इति व्यूहेन पादपूर्त्तिः कर्त्तव्या ।)

ता एव तिस्रस्त्रिष्टुभः संगताः षट्पञ्चाशदक्षरा एका ब्राह्मी त्रिष्टुप् भवति । ता एव तिस्रो जगत्यः संगता द्वासप्तत्यक्षरा एका ब्राह्मी जगती भवति । अत्राष्टम्यां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे ब्राह्मीशब्दं व्यवस्थाप्य द्वितीयादौ क्रमेण गायत्र्यादीनां षट्त्रिंशदा (३६) द्यङ्कान् विन्यसेत् ॥ १५ ॥

याजुषी गायत्री, साम्नी गायत्री और आर्ची गायत्री यह तीनों एकत्रित होकर छत्तीस अक्षर की ब्राह्मी गायत्री होती है । एवं याजुषी उष्णिक्, साम्नी उष्णिक् और आर्ची उष्णिक् यह तीनों एकत्रित होकर बयालीस अक्षर का ब्राह्मी उष्णिक् छन्द होता है । इसी प्रकार अनुष्टुबादि में समझना चाहिये ॥१५॥

आर्षीगायत्र्यादेरक्षरसंख्यां निरूपयितुमाह—

प्राग्यजुषामार्ष्य इति ॥१६॥

तिस्रस्तिस्र इत्यनुवर्तते । [1]यजुषां पङ्क्तेः प्राक् प्राजापत्या

---

१ यजुषां पङ्क्तेः प्राक् तिसृणां तिसृणामर्थात् 'प्राजापत्या, आसुरी, दैवी' इति त्रिविधगायत्रीणामष्ट–पञ्चदश–एकाक्षरात्मिकानां परस्परसम्मेलनेन चतुर्विंशत्यक्षरा एका आर्षी गायत्री भवति । एवं प्राजापत्यादित्रिविधत्रिविधानामुष्णिगादीनां जगत्यन्तानां समष्टिसंख्यायाः सम्मेलनेन अष्टाविंशत्यक्षरा एका आर्ष्युष्णिक् भवति । एवं जगतीपर्यन्तमेष एव क्रमो विधेयः । तथा चोदाहरणानि प्रदर्श्यन्ते । तत्र आर्षीगायत्री यथा—

"वायवा याहि दर्शत इमे सोमा अरं कृताः ।
तेषां पाहि श्रुधी हवम्" (ऋग्वेद, १।१।१।१।२।१)

आर्ष्युष्णिक् यथा

"य एक इद्विदयते वसु मर्त्ताय दाशुषे । ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग" (ऋग्वेद, १।६।१।१३।८४।७)

आर्ष्यनुष्टुप् यथा—

"विश्वा हि त्वा वृषन्तमं वाजेषु हवनश्रुतम् । वृषन्तमस्य हूमह ऊतिं

श्चासुरी दैवीति यास्तिस्रो गायत्र्यः, ताः संगताः सत्यश्चतुर्विंशत्यक्षरा एका आर्षी गायत्री भवति। ता एव तिस्र उष्णिहः संगता अष्टाविंशत्यक्षरा एका आर्षी उष्णिक् संपद्यते। तिस्रोऽनुष्टुभः संगताद्वात्रिंशदक्षरा एका आर्षी अनुष्टुब् भवति। ता एव तिस्रो बृहत्यः संगताः षट्त्रिंशदक्षरा एका आर्षी बृहती भवति। ता एव तिस्रः पङ्क्तयः संगताश्चत्वारिंशदक्षरा एका आर्षी पङ्क्तिर्भवति। ता एव तिस्रस्त्रिष्टुभः संगताश्चतुश्चत्वारिंशदक्षरा एका आर्षी त्रिष्टुब् भवति। ता एव तिस्रो जगत्यः संगताः अष्टाचत्वारिंशदक्षरा एका आर्षी जगती भवति। अत्र प्रथमायां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे आर्षीशब्दं व्यवस्थाप्य द्वितीयादिषु क्रमेण चतुर्विंशत्याद्यङ्कान् विन्यसेत्। प्रथमपङ्क्तेर्द्वितीयादिकोष्ठेष्वङ्कानामुपरि गायत्र्यादीनि नामा-

---

सहस्रसातमाम्" (ऋग्वेद, १।१।१।३।१०।१०)

आर्षीबृहती यथा--

"तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः। अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव ऽइन्द्रं गोभिर्नवामहे" (शु० य० २६।११)

आर्षीपङ्क्तिर्यथा--

"युवोर्हि माता अदितिर्विचेतसा द्यौर्न भूमिः पयसा पुपूतनि। अव प्रिया दिदिष्टन सूरो निनिक्त रश्मिभिः" (ऋग्वेद, ८।७।१०।११।१३२।६)

[मन्त्रेऽस्मिन् द्यौरित्यत्र 'दियौ' इति व्यूहेन पादपूर्त्तिर्विधेया]

आर्षीत्रिष्टुप् यथा--

"पितुश्चिदूधर्जनुषा विवेद, वि अस्य धारा असृजद्वि धेनाः। गुहा चरन्तं सखिभिः शिवेभिः, यह्वीभिर्न गुहा बभूव" (ऋग्वेद, २।८।३।१।१६)

आर्षीजगती यथा--

"विपूत्रदिन्द्रो अमतेरुत क्षुधः, स इन्द्रायो मघवा वस्व ईशते। तस्येदिमे प्रवणे सप्तसिन्धवः, वयो वर्द्धन्ति वृषभस्य शुष्मिनः" (ऋ० ७।८।१०।४।४३।३)

नि विन्यसेत्। अयं स्पष्टतरः प्रदर्शनोपायः—

(श्रीहलायुधभट्टविरचितं चतुःषष्टिकोष्ठात्मकं चक्रम्)

	छन्दः	गायत्री	उष्णिग्	अनुष्टुब्	बृहती	पङ्क्तिः	त्रिष्टुब्	जगती	अक्षराणां वृद्धिक्षयक्रमो
१	आर्षी	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८	४ वृद्धिः
२	दैवी	१	२	३	४	५	६	७	१ वृद्धिः
३	आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	१ ह्रासः
४	प्राजापत्या	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२	४ वृद्धिः
५	याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२	१ वृद्धिः
६	साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४	२ वृद्धिः
७	आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६	३ वृद्धिः
८	ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२	६ वृद्धिः *

इति भट्टहलायुधकृतायां छन्दोवृत्तौ द्वितीयोऽध्यायः ॥

* गायत्र्यादिसप्तच्छन्दसामार्ष्याद्यष्टसंज्ञाभिः षट्पञ्चाशद्भेदा भवन्ति । तेषामुदाहरणानि वृत्तिकारेण श्रीमता हलायुधमहोदयेन न प्रदर्शितानि । अस्माभिस्तु यथावसरप्राप्तमेव कानिचिद्वेदोक्तान्युदाहरणानि प्रदर्शितानीति ।

अत्रेदमवधेयम्—श्रीमत्पिङ्गलाचार्यकृतगायत्र्यादिलक्षणैर्ये वैदिकमन्त्रा न लक्ष्यन्ते, प्रत्युतान्यैर्ऋषिभिस्तत्तच्छन्दोभिरुक्तास्ते वक्ष्यमाण-निचृद्-भूरिग्-विराट्-स्वराड्रूपैः समाधेयाः । यथा—स्वरितस्यैकाक्षरत्वेऽपि दैवीविराड्रूपेण नानुष्टुप्छन्दस्त्वं विरुद्धम् । एवञ्च वेदेषु ये मन्त्राः सन्ति,

प्राजापत्या गायत्री, आसुरी गायत्री और दैवी गायत्री यह तीनों एकत्रित होकर चौबीस अक्षर की आर्षी गायत्री होती है। एवं प्राजापत्या उष्णिक, आसुरी उष्णिक और दैवी उष्णिक् यह तीनों एकत्रित होकर अठाईस अक्षर का आर्षी उष्णिक् छन्द होता है। इसी प्रकार अनुष्टुबादि में भी समझना चाहिये ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्वेणीरामशर्मकृतायां प्रेमानुभूतौ द्वितीयोऽध्यायः ॥

तेषां कात्यायनादिभिः सर्वानुक्रमणिकाकारैर्मन्वादिभिश्च यानि छन्दांसि विहितानि तेषामेव 'सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीया' इति न्यायाद्यथाशास्त्रत्वप्रतिपादनार्थमेव भगवता पिङ्गलाचार्येण छन्दःशास्त्रमिदं प्रणीतम्; न तु तेषां बाधनार्थम्। तथा ह्येकाक्षरादिक्रमेण गायत्र्यादिच्छन्दसां शास्त्रविहितत्वपुरस्सरं भेदा प्रदर्श्यन्ते, यथा—

अक्षरा	गायत्री	विशेषनाम
१	दैवी	०
२	,,	भुरिक्
३	,,	स्वराट्
४	याजुषी	विराट्
५	,,	निचृत्
६	,,	०
७	,,	भुरिक् (१), प्राजापत्या निचृत् (२)
८	प्राजापत्या	०
९	,,	भुरिक्
१०	,,	स्वराट् (१) साम्नी विराट् (२)
११	साम्नी	निचृत्
१२	साम्नी	
१३	,,	भुरिक् (१) आसुरी विराट् (२)
१४	,,	स्वराट् (१) आसुरी निचृत् (२)
१५	आसुरी	०
१६	,,	भुरिक् (१) आर्ची विराट् (२)
१७	,,	स्वराट् (१) आर्ची निचृत् (२)
१८	आर्ची	०
१९	,,	भुरिक्
२०	,,	स्वराट्
२१	आर्षी	पादनिचृत्

* तृतीयोऽध्यायः *

द्वितीयाध्याये आर्षी-दैव्यादिभेदेनाष्टविधां गायत्र्यादीनामक्षरमुक्त्वा सम्प्रति पुनस्तेषामेव पादव्यवस्थां वर्णयितुमुपक्रमते—

पादः ॥१॥

अधिकारोऽयमाध्यायपरिसमाप्तेः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत् 'पादः' इत्यधिकृतं वेदितव्यम् । वक्ष्यति च—'गायत्र्या वसवः' (पि० सू० ३।३) इति ॥१॥

तृतीय अध्याय की समाप्ति पर्यन्त 'पाद' का अधिकार रहेगा ॥१॥

प्रतिपादीयायां निर्दिष्टाक्षरसंख्यायामूनायां तत्पूरणाय परिभाषामाह—

इयादिपूरणः ॥२॥

'पादः' इत्यनुवर्तते। इयादिः पूरणो यस्य स इयादिपूरणः। आदिशब्देन उवादयोऽपि गृह्यन्ते। तत्रायमर्थः-यत्र गायत्र्या-

अक्षरा	गायत्री	विशेषनाम	अक्षरा	गायत्री	विशेषनाम
२२	आर्षी	विराट्	३४	ब्राह्मी	विराट्
२३	,,	निचत्	३५	,,	निचृत्
२४	,,	०	३६	,,	०
२५	,,	भुरिक्	३७	,,	भुरिक्
२६	,,	स्वराट्	३८	,,	स्वराट्

उष्णिगादिच्छन्दसामप्यनया रीत्याक्षरसंख्योहनीया । एवञ्चाथर्ववेदोक्तमन्त्रेष्वपि छन्दःसमाधानमूह्यम् ।

१—पादलक्षणं मन्दारमरन्दे (१।८)—

'छन्दसा प्रथितः शब्दः पाद इत्यभिधीयते ।'

२—'उवादयः' इत्यत्रादिपदेन यण्संयोगसवर्णदीर्घगुणवृद्धिव्यूहादयो गृह्यन्ते । तथा च कात्यायनः—

"पादपूरणार्थन्तु क्षैप्रसंयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेत" इति ।

यण्-व्यूहो यथा—'त्वामिन्द्र वज्रिन्' इत्यादौ 'वजरिन्' इति ।

दिच्छन्दसि पादस्याक्षरसंख्या न पूर्यते, तत्रेयादिभिः पूरयितव्या । यथा–'तत्सवितुर्वरेणियम्' (ऋ० सं० ३।४।१०।५), 'दिवं गच्छ सुवः पत' (यजु० १२।४) इत्यादयः ॥२॥

जिस गायत्री प्रभृति छन्दों में पाद के अक्षर की संख्या की पूर्त्ति न होती हो वहाँ पर 'इय्' एवं 'उव्' इत्यादि से अक्षर की पूर्त्ति करनी चाहिये । (जैसे—'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इस गायत्री छन्द के पाद में आठ अक्षर की जगह केवल सात ही अक्षर हैं अतः संख्या-पूर्त्ति के लिये 'तत्सवितुर्वरेणियम्' इस प्रकार कहना चाहिये ।) ॥२॥

गायत्र्याः पाद इत्युक्ते सामान्यतया तस्या अक्षरसंख्यां निरूपयति—

गायत्र्या वसवः ॥३॥

'पादः' इत्यनुवर्तते । परिभाषेयम् । गायत्र्याः पादो वस-

सवर्णदीर्घव्यूहो यथा—

'यन्त्रायध्वेऽस्यासते' इत्यादौ 'अस्य आसते' इति ।

गुणव्यूहो यथा—

'उपेन्द्र सुपर्वणीयम्' इत्यादौ 'उप इन्द्र सुपर्वणीम्' इति ।

वृद्धिव्यूहो यथा—

'ब्रह्मैतु सदनात्' इत्यादौ 'ब्रह्मा एतु सदनात्' इति ।

यण्-पदेन यरलवा गृह्यन्ते । गायत्र्यादिच्छन्दसि चेत् संख्यापूरणमक्षरगणनया न भवेचेत्तदा इयादिभिः उवादिभिश्च तत्पूरणार्थं भगवता पिङ्गलेन सूत्रितम् । तथा चोक्तं शौनकेन—

व्यूहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु सम्पदे ।

क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान् व्यवेयात् सदृशैः स्वरैः ॥ (ऋ०प्रा० १७।३६,३७)

१ अत्रेदमवगन्तव्यम् । यद्यपि दैव्यार्ष्यादिभेदेन पादाक्षरसंख्याभेदेन च गायत्र्या बहुविधत्वम्, तथापि आर्षीगायत्र्याश्चतुर्विंशत्यक्षरत्वेन त्रिपादरूपत्वादष्टाक्षरपादत्वं सिद्धम् । वेदेऽपि गायत्र्याः पादस्याष्टाक्षरत्वमेवोक्तमिति गायत्र्या अष्टाक्षरः पादः परिभाषितः । उक्तञ्चाग्न्येयच्छन्दःसारे (३।१)—

वोऽष्टाक्षराणि भवन्ति । यत्र गायत्र्याः पादोऽभिधास्यते तत्राष्टाक्षरो ग्राह्यः ॥३॥

जहाँ पर गायत्री का पाद कहा गया हो वहाँ पर अठारह अक्षर ग्रहण करने चाहिएँ ॥३॥

जगत्याः पादस्याक्षरसंख्यां निर्देष्टुमाह—

जगत्या आदित्याः ॥४॥

'पादः' इत्यनुवर्तते । जगत्याः पादो द्वादशाक्षरो भवति । यत्र क्वचिज्जागतः पादस्तत्र द्वादशाक्षरो गृह्यते ॥४॥

जहाँ पर जगती पाद कहा गया हो वहाँ पर बारह अक्षर समझने चाहिएँ ॥४॥

विराजः पादस्याक्षरसंख्यां निर्दिशति—

विराजो दिशः ॥५॥

'पादः' इत्यनुवर्तते । यत्र क्वचिद्वैराजः पाद इत्युच्यते, तत्र दशाक्षरः प्रत्येतव्यः ॥५॥

जहाँ पर वैराज पाद कहा गया हो वहाँ पर दश अक्षर ग्रहण करने चाहिएँ ॥५॥

त्रैष्टुभपादस्याक्षरसंख्यां निरूपयति—

त्रिष्टुभो रुद्राः ॥६॥

त्रैष्टुभः 'पादः' इत्युक्ते सर्वत्रैकादशाक्षरो गृह्यते । अस्मिन्नेवाध्याये परिभाषा एताश्चतस्रः ॥६॥

जहाँ पर त्रिष्टुप् पाद कहा गया हो वहाँ पर ग्यारह अक्षर समझने चाहिएँ ॥६॥

"गायत्र्यो वसवो ज्ञेयाः ।"

तथा च ऋक्प्रातिशाख्ये (१६।१६)—

"गायत्री सा चतुर्विंशत्यक्षरा । अष्टाक्षरास्त्रयः पादाः ।"

गायत्री-जगती-विराट्-त्रिष्टुभां-चतुर्णां पादव्यवस्थां प्रदर्शयति—

एकद्वित्रिचतुष्पादुक्तपादम् ॥७॥

एभिश्चतुर्भिर्लक्षणैरुक्तः पादो यस्य तत् 'उक्तपादं' छन्दः। यस्य छन्दसो यादृशः पादः परिभाषितस्तच्छन्दस्तेनैव पादेन क्वचिदेकपात्, क्वचिद्द्विपात्, क्वचित्त्रिपात्, क्वचिच्चतुष्पाद् भवति। गायत्री च त्रिपदैव। चतुर्भिरष्टाक्षरैः पादैरनुष्टुबेव स्यात् ॥७॥

पूर्वोक्त जिस छन्द में जो जैसा पाद कहा गया है वह छन्द उसी पाद से कहीं एक पाद, कहीं दो पाद, कहीं तीन पाद और कहीं चार पाद होता है और गायत्री छन्द तो त्रिपाद ही होता है। क्योंकि आठ आठ अक्षर वाले चार पाद का अनुष्टुप् छन्द होता है ॥७॥

'गायत्र्या वसवः' (पि० सू० ३।३) इत्यनेन गायत्र्याः पादस्याष्टाक्षरत्वमुक्त्वा पुनः षडक्षरपादचतुष्टयोपलक्षितायाश्चतुर्विंशत्यक्षराया गायत्र्या लक्षणमाह—

आद्यं चतुष्पादृतुभिः ॥८॥

'ऋतु'शब्देन लक्षणया षडक्षरः पादोऽभिधीयते। तैः पादैश्चतुष्पादं गायत्रं छन्दो भवति। एवं चतुर्विंशत्यक्षराणि संपद्यन्ते। यथा—

'दोषो गाय बृहद्गाय (१) गाय द्युमद्धेहि (२)।
आथर्वण स्तुहि (३) देवं सवितारम् (४)॥'
(अथर्ववेदे-कां० ६ सू० १ मं० १) ॥८॥

छ अक्षर के चारों पादों को एकत्रित करने से चौबीस अक्षर होते हैं, अतः चौबीस अक्षर का 'आर्षी गायत्री' छन्द होता है ॥८॥

---

१ एभिश्चतुर्भिः—'गायत्र्या वसवः' (पि०सू० ३।३) इत्यादिभिः चतुर्भिः सूत्रैः।

क्वचित् गायत्र्या एकविंशत्यक्षरात्मकत्वं लक्षयति—

क्वचित्त्रिपादृषिभिः ॥९॥

क्वचिद्वेदे सप्ताक्षरोपलक्षितैः पादैस्त्रिभिर्गायत्र्येव भवति। एवमेकविंशत्यक्षराणि जायन्ते। यथा—

'युवाकु हि शचीनां (१) युवाकु सुमतीनाम् (२)।
भूयाम वाजदाव्नाम् (३)॥'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० १ व० ३२ मं० ४) ॥९॥

किसी वेद में सात अक्षर के तीनों पादों को एकत्रित करने से इक्कीस अक्षर होते हैं, अतः इन इक्कीस अक्षरों का भी गायत्री छन्द होता है॥९॥

सप्ताक्षरायाः गायत्र्याः संज्ञाविशेषमाह—

सा पादनिचृत् ॥१०॥

[1]सैव गायत्री [2]'पादनिचृत्' इति संज्ञां लभते। प्रयोक्तुर-दृष्टाभ्युदयसंबन्धज्ञापनार्थमियं संज्ञा वेदस्यानादित्वान्महत्त्वेऽपि च न दुष्टेति ॥१०॥

सात अक्षर के तीन पाद के गायत्री को 'पादनिचृत्' कहते हैं ॥१०॥

---

१ सा पूर्वसूत्रोक्ता सप्ताक्षरा गायत्री 'पादनिचृत्' इति संज्ञां प्राप्नोतीत्यर्थः। तथा चाग्नेयच्छन्दः सारे (३३)—'सा गायत्री पादनिचृत्।'

२ पादनिचृदित्यस्योदाहरणन्तु 'क्वचित्त्रिपादृषिभिः' इति पूर्वसूत्रोक्ता 'युवाकु' इत्यादि ऋगेव।

शौनकेनाप्युक्तं ऋक्प्रातिशाख्ये (१६।१८)—

'युवाकु हीति गायत्री त्रयः सप्ताक्षरा विराट्।
सैषा पादनिचृन्नाम गायत्र्येवैकविंशिका ॥'

तथा च कात्यायनः—

'त्रयः सप्तकाः पादनिचृत्।'

अतिपादनिचृल्लक्षणमाह—

षट्कसप्तकयोर्मध्येऽष्टावतिपादनिचृत् ॥११॥

प्रथमः षडक्षरः, द्वितीयोऽष्टाक्षरः, तृतीयः सप्ताक्षरः । एवं त्रिभिः पदैर्या गायत्री सा 'अतिपादनिचृत्' इति संज्ञां लभते। 'त्रिपात्' इत्यनुवर्तनीयम् । यथा—

'प्रेष्ठं वो अतिथिं (१) स्तुषे मित्रमिव प्रियम् (२) ।
अग्निं रथं न वेद्यम् (३) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ६ अ० ६ व० ५ मं० १) ॥११॥

जिस गायत्री छन्द के प्रथम पाद में छ अक्षर, द्वितीय पाद में आठ अक्षर और तृतीय पाद में सात अक्षर हों उस त्रिपाद गायत्री को 'अतिपादनिचृत्' कहते हैं ॥११॥

नागीगायत्रीलक्षणमाह—

द्वौ नवकौ षट्कश्च नागी ॥१२॥

द्वौ नवाक्षरौ पादौ, षडक्षरस्तृतीयः । एवं त्रिभिः पादैः 'नागी' नाम गायत्री भवति । यथा—

'अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः (१) क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम् (२) ।
ऋध्यामा त ओहैः (३) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ३ अ० ५ व० १० मं० १) ॥१२॥

जिस गायत्री छन्द के प्रथम दो पाद में नौ अक्षर और तृतीय पाद में छ अक्षर हों उस त्रिपाद गायत्री को 'नागी' कहते हैं ॥१२॥

वाराहीगायत्रीलक्षणमाह—

विपरीता वाराही ॥१३॥

इयमेव नागी गायत्री विपरीता यदा भवति, तदा 'वाराही' नाम भवति । प्रथमः पादः षडक्षरः, द्वितीयतृतीयौ नवाक्षरौ । यथा—

'वीतं स्तुके स्तुके (१) युवमस्मासु नियच्छतम् (२) ।

'प्र प्र यज्ञपतिं तिर (३) ॥'

(तै० आ० प्रपा० ३ अ० ११ मं० २०) ॥१३॥

जिस गायत्री के प्रथम पाद में छ अक्षर हों एवं द्वितीय और तृतीय पाद में छ अक्षर हों उस गायत्री को 'वाराही' कहते हैं ॥१३॥

वर्धमानागायत्रीलक्षणमाह—

षट्कसप्तकाष्टकैर्वर्धमाना ॥१४॥

षडक्षरः प्रथमः पादः, द्वितीयः सप्ताक्षरः, तृतीयोऽष्टाक्षरः । एवं त्रिभिः पादैः 'वर्धमाना' गायत्री भवति । यथा—

'त्वमग्ने यज्ञानां (१) होता विश्वेषां हितः (२) ।
देवेभिर्मानुषे जने (३) ॥'

(ऋग्वेदे–अ० ४ अ० ५ व० २१ मं० १) ॥१४॥

जिस छन्द के प्रथम पाद में छ अक्षर, द्वितीय पाद में सात अक्षर और तृतीय पाद में आठ अक्षर हों उस छन्द को 'वर्धमाना गायत्री' कहते हैं ॥ १४ ॥

प्रतिष्ठागायत्रीलक्षणमाह—

विपरीता प्रतिष्ठा ॥१५॥

सैव वर्धमाना गायत्री विपरीता यदा भवति, तदा 'प्रतिष्ठा' नाम गायत्री भवति । अष्टाक्षरः प्रथमः पादः, द्वितीयः सप्ताक्षरः, षडक्षरस्तृतीयः । यथा—

'आपः पृणीत भेषजं (१) वरूथं तन्वे३ मम (२) ।
ज्योक्च सूर्यं दृशे (३) ॥'

(ऋग्वेदे–अ० १ अ० २ व० १२ मं० १) ॥१५॥

जिस छन्द के प्रथम पाद में आठ अक्षर, द्वितीय पाद में सात अक्षर और तृतीय पाद में छ अक्षर हों उस छन्द को 'प्रतिष्ठा गायत्री' कहते हैं ॥ १५ ॥

१ 'पर' इति व्यूहान्नवाक्षरत्वम् ।

विराड्गायत्रीलक्षणमाह —

तृतीयं द्विपाज्जागतगायत्राभ्याम् ॥१६॥

तृतीयशब्देनैतदध्यायस्थसूत्रपाठक्रमापेक्षया विराजमाह। तथा चोक्तम्—'विराजो दिशः' (पि० सू० ३।५) इति। यदा द्वादशाक्षरोऽष्टादशश्च पादः स्यात्, ततस्ताभ्यां 'द्विपाद् विराड्' नाम गायत्री भवति। यथा—

'नृभिर्येमानो हर्यतो विचक्षणो (१) राजा देवः समुद्रियः (२) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ७ अ० ५ व० १५ मं० १) ॥१६॥

जगती छन्द का एक पाद (बारह अक्षर) और गायत्री छन्द का एक पाद (अठारह अक्षर) इन दोनों का 'द्विपाद् विराट्' नामक गायत्री छन्द होता है ॥ १६ ॥

एकादशाक्षरत्रिपाद्रूपाया विराड्गायत्र्या लक्षणमाह—

त्रिपात्त्रैष्टुभैः ॥१७॥

'तृतीयम्' इत्यनुवर्तते। एकादशाक्षरैः पादैः 'त्रिपाद् विराड्' नाम गायत्री भवति। यथा—

'दुहीयन्मित्रधितये युवाकु (१) राये च नो मिमीतं वाजवत्यै (२)। इषे च नो मिमीतं धेनुमत्यै (३) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० ८ व० २३ मं० ४) ॥१७॥

त्रिष्टुप् छन्द के तीन पाद अर्थात् ग्यारह अक्षर के तीन पाद को 'त्रिपाद् विराट्' नामक गायत्री छन्द कहते हैं ॥ १७ ॥

इति गायत्र्यधिकारः।

अथ [1]उष्णिगधिकारः।

इदानीमुष्णिगधिकारः प्रस्तूयते—

उष्णिग्गायत्रौ जागतश्च ॥१८॥

---

1 उष्णिक्पदस्योत्पत्तिमाह दैवतब्राह्मणे (३।४)—

यत्र गायत्रावष्टाक्षरौ पादौ, जागतश्च द्वादशाक्षरः, एवं त्रिभिः पादैः 'उष्णिग्' नाम छन्दो भवति । अत्र च क्रमो न विवक्षितः । पादसंख्यामात्रं विधीयते ॥१८॥

जिस छन्द का दो पाद अठारह अक्षर का और एक पाद बारह अक्षर का हो उस त्रिपाद् को 'उष्णिक्' छन्द कहते हैं ।

(उपर्युक्त पाद में किसी प्रकार का क्रम नहीं है, यहाँ पर केवल पाद की संख्या-मात्र का ही विधान है) ॥१८॥

उष्णिग्भेदं प्रदर्शयति—

ककुम्मध्ये चेदन्त्यः ॥१९॥

गायत्रयोः पादयोर्मध्ये जागतश्चेत्पादो भवति, तदेयम् उष्णिक् [१]'ककुप्' सञ्ज्ञां लभते । यथा—

'युष्माकं स्मा रथाँ अनु (१) मुदे दधे मरुतो जीरदानवः (२) । वृष्टीद्यावो यतीरिव (३) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ४ अ० ३ व० ११ मं० ५) ॥१९॥

जिस छन्द का प्रथम और अन्त का पाद अठारह अक्षर का एवं मध्य का पाद बारह अक्षर का हो उस उष्णिक् की 'ककुप्' संज्ञा होती है ॥१९॥

पुर-उष्णिक्लक्षणमाह—

पुरउष्णिक्पुरः ॥२०॥

उष्णिगुत्स्नानात् स्निह्यतेर्वा कान्तिकर्मणोऽपि वोष्णीषिणो वेत्यौपमिकम् ।

तथा च निरुक्ते (७।१२)—

'उष्णिगुत्स्नाता भवति । स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः । उष्णीषिणो वेत्यौपमिकम् ।'

१ ककुभो निर्वचनमित्थं दैवतब्राह्मणे (३।५)—

'ककुप् ककुद्रूपिणीत्यौपमिकम् ।'

तथा च निरुक्ते (७।३)—

'ककुप् ककुभिनी भवति । ककुप् च कुब्जश्च कुजतेर्वोब्जतेर्वा ।'

स एव पादो जागतश्चेत् प्रथमो भवति, गायत्री च परतः, तदा 'पुरउष्णिक्' नाम भवति । यथा—

१'अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषज (१) मपामुत प्रशस्तये (२) । देवा भवत वाजिनः (३) ॥'

(ऋग्वेदे–अ० १ अ० २ व० ११ मं० ४) ॥२०॥

जिस छन्द का प्रथम पाद बारह अक्षर का एवं अवशिष्ट दो पाद अठारह अक्षर के हों उस छन्द को 'पुर उष्णिक्' कहते हैं ॥२०॥

परोष्णिक्लक्षणमाह—

परोष्णिक् परः ॥२१॥

एवं जागतः पादः परतश्चेद्भवति, पूर्वौ च गायत्रौ, तदा 'परोष्णिक्' नाम छन्दो भवति ।

'उष्णिग्गायत्रौ जागतश्च' (पि० सू० ३।१८) इत्यनेन गतार्थमेतत् विशेषसञ्ज्ञाभिधानार्थं पुनरुच्यते । प्रथमसूत्रे (पि० सू० ३।२०) उष्णिग्ग्रहणमधिकारार्थम् ।

यथा—

'अग्ने वाजस्य गोमत (१) ईशानः सहसो यहो (२) ।
अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः (३) ॥'

(ऋग्वेदे–अ० १ अ० ५ व० २७ मं० ४) ॥२१॥

जिस छन्द का अवशिष्ट पाद बारह अक्षर का एवं प्रथम दो पाद अठारह अक्षर के हों उस छन्द को 'परोष्णिक्' कहते हैं ॥२१॥

क्वचित् सप्ताक्षरचतुष्पादत्वेऽपि उष्णिक् भवतीति प्रदर्शयितुमाह—

चतुष्पात्सप्तभिः ॥२२॥

सप्ताक्षरैश्चतुर्भिः पादैः 'उष्णिक्' एव भवति । यथा—

'नदं व ओदतीनां (१) नदं यो युवतीनाम (२) ।

१ 'अप्सु अन्तः' इति व्यूहात्पादपूर्तिः ।

पतिं वो 'अघ्न्यानां (३) धेनूनामिषुध्यसि (४) ॥'
(ऋग्वेदे-अ० ६ अ० ५ व० ५ मं० २ ॥२२॥
सात अक्षर के चार पाद को भी 'उष्णिक्' छन्द कहते हैं ॥२२॥

इत्युष्णिगधिकारः ।

अथानुष्टुबधिकारः[2] ।

इदानीमनुष्टुबधिकारः प्रारभ्यते—

अनुष्टुब्गायत्रैः ॥२३॥

'चतुष्पाद्' इत्यनुवर्तते । गायत्रैरष्टाक्षरैः पादैश्चतुष्पाच्छन्दः 'अनुष्टुप्' संज्ञं भवति । यथा—

'सहस्रशीर्षा पुरुषः (१) सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा (३) त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् (४) ॥'
(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ४ व० १७ मं० १) ॥२३॥

अठारह अक्षर के चार पाद की 'अनुष्टुप्' संज्ञा होती है ॥ २३ ॥

अनुष्टुभो भेदविशेषमाह—

त्रिपात्क्वचिज्जागताभ्यां च ॥२४॥

'अनुष्टुब्' इत्यनुवर्तते । चकाराद् गायत्रग्रहणं च । गायत्रेणैकेन पादेन, ततो द्वाभ्यां जागताभ्यां क्वचित् 'त्रिपादनुष्टुब्' भवति ॥२४॥

अठारह अक्षर के चार पाद और बारह अक्षर के दो पाद इस प्रकार तीन पाद होने पर भी उनको कभी 'अनुष्टुप्' कहते हैं ॥ २४ ॥

त्रिपादनुष्टुभः अन्यप्रकारं भेदविशेषनिरूपणमाह—

मध्येऽन्ते च ॥२५॥

---

१ 'अघ्नीयानाम्' इतीयशब्देन पूर्त्तिः ।

२ अनुष्टुभो निर्वचनमाह दैवतब्राह्मणे (३ । ७)—
'अनुष्टुबनुस्तोभनात् ।'
तथा च निरुक्ते (७।१२)—'अनुष्टुबनुष्टोभनात् ।'

जागतयोः पादयोर्मध्येऽन्ते च यदा गायत्रः पादो भवति, तदाप्यनुष्टुबेव स्यात् । यथा—

'पर्यू षु [1]प्रधन्व वाजसातये (१) परिवृत्राणि सक्षणिः (२)। द्विषस्तरध्या[2] ऋणया न ईयसे (३) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ७ अ० ५ व० २२ मं० १)

अन्तपद्य उदाहरणम्-

'मा कस्मै धातमभ्यमित्रिणे[3] नो (१) माकुत्रा नो गृहेभ्यो धेनवो गुः (२) । स्तनाभुजो [4]अशिश्वीः (३) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० ८ व० २३ मं० ३) ॥२५॥

जिस छन्द का प्रथम और शेष पाद बारह अक्षर का एवं मध्यका पाद अठारह अक्षर का अथवा प्रथम दो पाद बारह अक्षर के एवं शेष पाद अठारह अक्षर के हों—इन दो प्रकार के छन्दों को भी 'अनुष्टुप्' कहते हैं ॥ २५ ॥

इत्यनुष्टुबधिकारः ।

अथ [5]बृहत्यधिकारः ।

बृहत्याः सामान्यलक्षणमाह—

बृहती जागतस्त्रयश्च गायत्राः ॥२६॥

एको जागतः पादः, त्रयश्च गायत्राः, तदा 'बृहती' नाम छन्दो भवति । यथा—

१,-२, 'प्रधनुव', 'अधिया' इत्युवियुशब्देन पादपूर्त्तिः ।

३,-४, 'अभिय', 'अशिशुवी', इति पूरणात्पादपूर्त्तिः ।

५ बृहत्या निर्वचनमित्थमाह दैवतब्राह्मणे (३।११)—

'बृहती बृंहतेर्वृद्धिकर्मणः ।'

तथा च निरुक्ते (७।१२)—

'बृहती परिबर्हणात् ।'

'मत्स्वा सुशिप्र हरिवस्तदीमहे(१)त्वे आ भूषन्ति वेधसः (२)।
तव श्रवास्युपमान्युक्थ्या सुतेष्विन्द्र गिर्वणः (४) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ६ अ० ७ व० ३ मं० २) ॥२६॥

जिस छन्द का एक पाद बारह अक्षर का और तीन पाद अठारह अक्षर के हों उस छन्द को 'बृहती' कहते हैं ॥२६॥

बृहतीभेदं पथ्याबृहतीलक्षणमाह—

पथ्या पूर्वश्चेत्तृतीयः ॥२७॥

'बृहती' इत्यनुवर्तते । पूर्वः पादो जागतो यदि तृतीयो भवति, अन्ये गायत्राः, तदासौ बृहती 'पथ्या' नाम छन्दो भवति । यथा-

'मा चिदन्यद्विशंसत (१) सखायो मा रिषण्यत (२)।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते(३)मुहुरुक्था च शंसत(४)।'

(ऋग्वेदे-अ० ५ अ० ७ व० १० मं० १) ॥२७॥

जिस छन्द का तृतीय पाद बारह अक्षर का एवं प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ पाद आठ अक्षर के हों उस बृहती छन्द की 'पथ्या' संज्ञा होती है ॥२७॥

बृहतीभेदं न्यङ्कुसारिणीमाह—

न्यङ्कुसारिणी द्वितीयः ॥२८॥

'पूर्वश्चेद्' इत्यनुवर्तते । पूर्वश्चेज्जागतः पादो द्वितीयो भवति, शेषाश्च गायत्राः, तदा 'न्यङ्कुसारिणी' नाम्नी बृहती भवति । यथा—

[1]'मत्स्यपायि ते महः (१) पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः (२)।
वृषा ते [2]वृष्ण इन्दु (३) र्वाजी सहस्रसातमः (४) ॥'

(ऋग्वेदे—अ० २ अ० ४ व० १८ मं० १) ॥२८॥

१,-२, 'मत्सीय', 'वृषण', इति पूर्त्यां विराट्त्वाद्वा न दोषः ।

जिस छन्द का द्वितीय पाद बारह अक्षर का और अन्य तीन पाद आठ अक्षर के हों उस छन्द को 'न्यङ्कुसारिणी बृहती' कहते हैं ॥२८॥

मतान्तरेण 'स्कन्धोग्रीवी क्रौष्टुकेः', 'उरोबृहती यास्कस्य' इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां न्यङ्कुसारिण्या नामान्तरे आह—

स्कन्धोग्रीवी क्रौष्टुकेः ॥२९॥

इयमेव 'न्यङ्कुसारिणी' क्रौष्टुकेराचार्यस्य मतेन 'स्कन्धोग्रीवी' नाम छन्दो भवति। आचार्यग्रहणं पूजार्थम् ॥२६॥

आचार्य क्रौष्टुकि ने न्यङ्कुसारिणी बृहती को ही 'स्कन्धो ग्रीवी' छन्द कहा है ॥२९॥

उरोबृहती यास्कस्य ॥३०॥

इयमेव 'न्यङ्कुसारिणी' यास्कस्याचार्यस्य मतेन 'उरोबृहती' नाम्नी भवति ॥३०॥

आचार्य यास्क ने न्यङ्कुसारिणी को ही 'उरो बृहती' छन्द कहा है ॥३०॥

बृहतीभेदमुपरिष्टाद्बृहतीमाह—

उपरिष्टाद्बृहत्यन्ते ॥३१॥

यदा जागतः पादोऽन्ते भवति, तदा 'उपरिष्टाद्बृहती' नाम भवति। यथा—

'न तमंहो न दुरितं (१) देवासो अष्ट [1]मर्त्यम् (२)
सजोषसो यमर्यमा (३) मित्रो नयन्ति वरुणो अतिद्विषः (४)॥'
(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ७ व० १३ मं० १) ॥३१॥

जिस छन्द का शेष पाद बारह अक्षर का एवं अन्त के तीन पाद अठारह अक्षर के हों उस छन्द को 'उपरिष्टाद बृहती' कहते हैं ॥३१॥

बृहतीविशेषपुरस्ताद्बृहतीलक्षणमाह—

पुरस्ताद्बृहती पुरः ॥३२॥

१ 'मर्त्यम्' इति पादपूर्त्तिः।

स एव जागतः पादः पूर्वश्चेद् भवति, शेषाश्च गायत्राः, तदा 'पुरस्ताद्बृहती' नाम भवति । यथा—

'महो यस्पतिः शवसो [1]असाम्या (१)महो नृम्णस्य तूतुजिः(२)।
भर्ता वज्रस्य धृष्णोः (३) पिता पुत्रमिव प्रियम् (४) ॥'
(ऋग्वेदे-अ० ७ अ० ७ व० ६ मं० ३)

'बृहती जागतस्त्रयश्च गायत्राः' (पि० सू० ३।२६) इत्यनेनैव गतार्थमेतत् । संज्ञाविशेषप्रदर्शनार्थं पुनरुच्यते ॥३२॥

जिस छन्द का प्रथम पाद बारह अक्षर का एवं शेष तीन पाद अठारह अक्षर के हों उस छन्द को 'पुरस्ताद् बृहती' कहते हैं ॥३२॥

नवाक्षरचतुष्पाद्बृहतीविशेषमाह—

क्वचिन्नवकाश्चत्वारः ॥३३॥

क्वचिद्वेदे नवाक्षराश्चत्वारः पादा दृश्यन्ते, सापि बृहत्येव । यथा—

[2]चक्षुषो हेते मनसो हेते (१) वाचो हेते ब्रह्मणो हेते (२) ।
यो माघायुरभिदासति (३) तमग्ने मेन्या मेनि कृणु (४) ॥'
(कृ० यजुर्वेदे—तै० ब्रा० कां० २ प्र० ४ अ० २ मं० १) ॥३३॥

वेद में किसी किसी स्थान में चार पाद में ही नौ अक्षर होते हैं, अतः ऐसी जगह भी 'बृहती' छन्द होता है ॥३३॥

अन्यविधां बृहतीमाह—

वैराजौ गायत्रौ च ॥३४॥

यत्र वैराजौ पादौ पूर्वौ दशाक्षरौ भवतः, ततो गायत्रौ च, सापि बृहती । यथा—

'कां सोस्मितां हिरण्यप्राकारा (१) मार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां

---

१ 'असामिया' इति पादपूर्त्तिः ।

२ प्रथमे पादेऽक्षराधिक्याद्भुरिग्रूपा ।

तर्पयन्तीम्[1] (२)। पद्मेस्थितां पद्मवर्णां (३) तामिहोपह्वये श्रियम् (४) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ४ अ० ४ परि० मं० ४) ॥३४॥

प्रथम दो पाद दश अक्षर के एवं अवशिष्ट दो पाद अठारह अक्षर के होने पर भी उसको 'बृहती' कहते हैं ॥३४॥

बृहतीविशेषमहाबृहतीमाह—

त्रिभिर्जागतैर्महाबृहती ॥३५॥

त्रिभिर्जागतैः पादैश्छन्दो 'महाबृहती' नाम । यथा—

'अजीजनो अमृत मर्त्येष्वाँ (१) ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः (२)। सदासरो वाजमच्छा स निष्यदत् (३) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ७ अ० ५ व० २२ मं० ४) ॥३५॥

बारह अक्षर के तीन पाद को 'महा बृहती' छन्द कहते हैं ॥३५॥

महाबृहत्या नामान्तरमाह—

सतोबृहती ताण्डिनः ॥३६॥

इयमेव महाबृहती ताण्डिन आचार्यस्य मतेन 'सतोबृहती' नाम भवति ॥३६॥

आचार्य ताण्डी मुनि ने महा बृहती को ही 'सतो बृहती' कहा है ॥३६॥

इति बृहत्यधिकारः ।

अथ[2] पङ्क्त्यधिकारः ।

पङ्क्त्यधिकारं निरूपयति—

पङ्क्तिर्जागतौ गायत्रौ च ॥३७॥

---

१ द्वितीयेऽक्षराधिक्यादियमपि भुरिक् ।

२ पङ्क्तिपदस्य निर्वचनमित्थं दैवतब्राह्मणे (३।१३)—
'पङ्क्तिः पञ्चिनी पञ्चपदा ।'

यदा द्वौ पादौ जागतौ भवतस्ततो गायत्रौ च, तदा 'पङ्क्तिः' नाम छन्दः ॥३७॥

जिस छन्द के दो पाद बारह अक्षर के एवं दो पाद अठारह अक्षर के हों उस छन्द को 'पङ्क्ति' कहते हैं ॥ ३७ ॥

पङ्क्तिभेदं सतःपङ्क्तिं लक्षयति—

पूर्वौ चेदयुजौ सतः पङ्क्तिः ॥३८॥

यत्र पूर्वोद्दिष्टौ पादावयुजौ भवतः, प्रथमतृतीयौ पादौ जागतावित्यर्थः द्वितीयचतुर्थौ च गायत्रौ तच्छन्दः 'सतः पङ्क्तिः' नाम भवति । यथा—

'अग्निना तुर्वशं यदुं परावत (१) उग्रादेवं हवामहे (२) ।
अग्निर्नयन्नववास्त्वं बृहद्रथं (३) तुर्वीतिं दस्यवे सहः (४) ॥'
(ऋग्वेदे-अ० १ अ० ३ व० ११ म० ३)॥३८॥

जिस छन्द का प्रथम और तृतीय पाद बारह अक्षर का एवं द्वितीय और चतुर्थ पाद अठारह अक्षर के हों उस छन्द को 'सतः पङ्क्ति' कहते हैं ॥ ३८ ॥

विपरीतसतः पङ्क्तिमाह—

विपरीतौ च ॥३९॥

निरुक्तेऽपि च—
'पङ्क्तिः पञ्चपदा ।' (७।१२)
एवञ्च ऋक्प्रातिशाख्ये (१६।५१)—
'पङ्क्तिरष्टाक्षराः पञ्च ।'
तथा च कात्यायनः—
'पञ्चमं पङ्क्तिः पञ्चपदा ।'
उव्वटाचार्योऽपि वदति—
'सा पङ्क्तिरिष्यते यस्याः अष्टाक्षराः पञ्च पादाः भवन्ति ।'

यदा तावेव पादौ विपरीतौ भवतः, तदापि सतःपङ्क्तिरेव। अयमर्थः—प्रथमतृतीयौ पादौ गायत्रौ, द्वितीयचतुर्थौ च जागतौ, तदापि सतःपङ्क्तिरेव भवति। यथा—

'य ऋष्वः श्रावयत्सखा (१) विश्वेत्स वेद जनिमा पुरुष्टुतः (२)। तं विश्वे मानुषा युगे (३) इन्द्रं हवन्ते तविषं यतस्रुचः (४)॥'

(ऋग्वेदे-अ० ६ अ० ४ व० ३ मं० २) ॥३९॥

जिस छन्द के प्रथम और तृतीय पाद अठारह अक्षर के एवं द्वितीय और चतुर्थ पाद बारह अक्षर के हों उस छन्द को भी 'सतः पङ्क्तिः' कहते हैं ॥ ३९ ॥

प्रस्तारपङ्क्तिमाह-

[1]प्रस्तारपङ्क्तिः पुरतः ॥४०॥

यदा जागतौ पादौ पूर्वौ भवतः, गायत्रौ च परतः, तदा 'प्रस्तारङ्क्तिः' नाम। यथा—

'भद्रमिद्भद्रा कृणवत्सरस्वत्य (१) कवारी चेतति वाजिनीवती (२)। गृणाना जमदग्निवत् (३) स्तुवाना च वसिष्ठवत् (४)॥'

(ऋग्वेदे-अ० ५ अ० ६ व० २० मं० ३)

'पङ्क्तिर्जागतौ गायत्रौ च' (पि० सू० ३।३७) इत्यनेन गतार्थमिदं संज्ञाविशेषज्ञापनार्थं पुनरुच्यते ॥४०॥

जिस छन्द के प्रथम दो पाद बारह अक्षर के और अवशिष्ट दो पाद अठारह अक्षर के हों उस छन्द को 'प्रस्तार पङ्क्ति' कहते हैं ॥४०॥

आस्तारपङ्क्तिमाह—

आस्तारपङ्क्तिः परतः ॥४१॥

---

१ कुत्रचित् पुस्तकेषु प्रथममास्तारपङ्क्तिरित्येव पाठो लभ्यते, स चायुक्तः ? सर्वानुक्रमविरोधात्। तथा हि—'प्रास्तारपङ्क्तिः पुरतः पश्चादास्तारपङ्क्तिका।' (३३०।१२)

यदा जागतौ पादौ परौ भवतः, गायत्रौ च पूर्वौ, तदा 'आस्तारपङ्क्तिः' नाम । यथा—

'भद्रं नो अपि वातय (१) मनो दक्षमुत क्रतुम् (२) ।
अधा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे (३) रणन् गावो
न यवसे विवक्षसे (४) ।'

(ऋग्वेदे-अ० ७ अ० ७ व० ११ मं० १) ॥४१॥

जिस छन्द के प्रथम दो पाद अठारह अक्षर के एवं अवशिष्ट दो पाद बारह अक्षर के हों उस छन्द को 'आस्तार पङ्क्ति' कहते हैं ॥४१॥

विष्टारपङ्क्तिमाह—

विष्टारपङ्क्तिरन्तः ॥४२॥

यदा जागतौ पादौ मध्ये भवतः, आद्यन्तयोश्च गायत्रौ, तदा 'विष्टारपङ्क्तिः' नाम । यथा—

'अग्ने तव श्रवो वयो (१) महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो (२) ।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं१ (३) दधासि दाशुषे कवे (४) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ७ व० २८ मं० १) ॥४२॥

जिस छन्द के प्रथम और चतुर्थ पाद अठारह अक्षर के एवं द्वितीय और तृतीय पाद बारह अक्षर के हों उस छन्द को 'विस्तार पङ्क्ति' कहते हैं ॥ ४२ ॥

संस्तारपङ्क्तिमाह—

संस्तारपङ्क्तिर्बहिः ॥ ४३ ॥

यदा तावेव जागतौ पादौ बहिर्भवतः, मध्ये च गायत्रौ, तदा 'संस्तारपङ्क्तिः' नाम छन्दः । यथा—

'पितुभृतो न तन्तुमित्सुदानवः (१) प्रति दध्मो यजामसि (२) ।
उषा अप स्वसुस्तमः (३) संवर्तयति वर्तनिं सुजातता (४) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ८ व० ३० मं० ३,४) ॥ ४३ ॥

जिस छन्द के प्रथम और चतुर्थ पाद बारह अक्षर के एवं द्वितीय और तृतीय पाद अठारह अक्षर के हों उस छन्द को 'संस्तार पङ्क्ति' कहते हैं॥४३॥

अक्षरपङ्क्तिलक्षणमाह—

अक्षरपङ्क्तिः पञ्चकाश्चत्वारः ॥ ४४ ॥

पञ्चाक्षरैश्चतुर्भिः पादैः 'अक्षरपङ्क्तिः' नाम छन्दः। ननु चत्वारिंशदक्षरा पङ्क्तिश्छन्दः, तत्कथं 'पञ्चकाश्चत्वारः' इत्युच्यते ? तत्रोत्तरम्—'द्वावप्यल्पशः' (पि० सू० ३।४५) इत्यस्मात् सिंहावलोकितन्यायेनाल्पग्रहमनुवर्तते, तेन पङ्क्तेरल्पत्वं विशेषात्प्रतिपादितं भवति। यथा—

'पश्वा न तायुं (१) गुहा चतन्तं (२)
नमो युजानं (३) नमो वहन्तम् (४) ॥'
(ऋग्वेदे-अ० १ अ० ५ व० ६ मं० १) ॥४४॥

पाँच अक्षर के चार पाद वाले छन्दको 'अक्षर पङ्क्ति' कहते हैं॥४४॥

अल्पशः पङ्क्तिमाह—

द्वावप्यल्पशः ॥ ४५ ॥

पञ्चग्रहणमनुवर्तते। पञ्चाक्षराभ्यां पादाभ्यामल्पशः पङ्क्तिर्नाम छन्दो भवति, क्वचिदेव वेदे न सर्वत्र। यथा—

'सदो विश्वायुः (१) शर्म सप्रथाः।'
(तै० आ० ४।११) ॥४५॥

जिस छन्द के प्रत्येक पाद में पाँच पाँच अक्षर हों इस प्रकार के दो पादों में 'अल्पशः पङ्क्ति' नामक छन्द होता है। वेद में किसी स्थान-विशेष में ही इस छन्द का उपयोग देखा जाता है, सर्वत्र नहीं॥४५॥

पदपङ्क्तिलक्षणमाह—

पदपङ्क्तिः पञ्च ॥ ४६ ॥

'पञ्चकाः' इत्यनुवर्तते। यदा पञ्चाक्षराः पञ्च पादा भवन्ति, तदा 'पदपङ्क्तिः' नाम छन्दः। यथा—

[1]'घृतं न पूतं (१) तनूररेपाः (२) शुचि हिरण्यम् (३) ।
तत्ते रुक्मो न (४) रोचत स्वधावः (५) ॥'
(ऋग्वेदे-अ० ३ अ० ५ व० १० मं० ६) ॥४६॥

पाँच अक्षर के पाँच पाद का 'पद पङ्क्ति' छन्द होता है ॥४६॥

प्रकारान्तरेण पदपङ्क्तिलक्षणमाह—

चतुष्कषट्कौ त्रयश्च ॥४७॥

चकारः 'पञ्चकाः' इत्यनुकर्षणार्थः । यदा प्रथमश्चतुरक्षरः पादः, द्वितीयः षडक्षरः, ततस्त्रयः पञ्चाक्षरास्तदा पञ्चपदा पदपङ्क्तिरेव । यथा—

[2]'अधा ह्यग्ने (१) क्रतोर्भद्रस्य (२) दक्षस्य साधोः (३) ।
रथीर्ऋतस्य (४) बृहतो बभूथ (५) ॥'
(ऋग्वेदे-अ० ३ अ० ५ व० १० मं० २) ॥४७॥

जिस छन्द के प्रथम पाद में चार अक्षर द्वितीय पाद में छः अक्षर और अवशिष्ट तीन पाद में पाँच पाँच अक्षर हों उस छन्द को भी 'पद पङ्क्ति' कहते हैं ॥४७॥

पथ्यापङ्क्तिलक्षणमाह—

पथ्या पञ्चभिर्गायत्रैः ॥ ४८ ॥

पञ्चभिरष्टाक्षरैः पादैः 'पथ्या' नाम पङ्क्तिर्भवति । अस्योदाहरणम्—

[3]'यो अर्यो मर्तभोजनं (१) पराददाति दाशुषे (२) ।

---

१ भुरिग्रूपत्वादेकाक्षराधिक्यम् । कात्यायनेन तु 'पञ्चकाश्चत्वारः षट्कश्चैकः' (सर्वा० ४।२) इत्येव सूत्रितम् ।

२ अत्र पादक्रमो नास्ति । यथा कथञ्चित्पादत्रयं पञ्चाक्षरम्, एकश्चतुरक्षरः, एकश्च षडक्षर इत्यर्थः । अत एवोक्तं ऋक्प्रातिशाख्ये (१६।१५)—
'द्वौ वा पादौ चतुष्कश्च षट्कश्चैकस्त्रिपञ्चकाः ।'

३ यद्यप्यस्याः पूर्वार्धे पादद्वयम्, उत्तरार्धे च त्रयमिति प्रायो दृश्यते,

इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु (३) विभजा भूरि ते वसु (४)
भक्षीय तव राधसः (५) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० ६ व० २ मं० १) ॥३८॥

जिस छन्द के प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर हों, तो इस प्रकार के पाँच पाद का 'पथ्या' नामक 'पङ्क्ति' छन्द होता है ॥ ४८ ॥

'पञ्चाक्षरादिपञ्चपादपङ्क्तिलक्षणमुक्त्वा सम्प्रति षट्पादां जागतीं पङ्क्तिमाह—

जगती षड्भिः ॥४९॥

'गायत्रैः' इत्यनुवर्तते। गायत्रैः षड्भिः पादैः 'जगती' नाम पङ्क्तिच्छन्दो भवति। यथा--

'महि वो महतामवो (१) वरुण मित्र दाशुषे (२)।
यमादित्या अभि द्रुहो (३) रक्षथा नेमघं नश (४)
दनेहसो व ऊतयः (५) सुऊतयो व ऊतयः (६) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ६ अ० ४ व० ७ मं० १) ॥३९॥

जिस छन्द में आठ अक्षर के छ पाद हों उसका 'जगती' नामक 'पङ्क्ति' छन्द होता है ॥ ४९ ॥

इति पङ्क्त्यधिकारः।

तथापि कचिद्वैपरीत्यस्यापि विद्यमानत्वान्न तथा नियमः। यथा—

"नकिर्देवा मिनीमसि (१) नकिरा योपयामसि (२) मन्त्रश्रुत्यं चरामसि (३)। पक्षेभिरपि कक्षेभि (४) रत्रापि सं रभामहे (५)॥"

(ऋग्वेद, ८।७।३२।७)

अथ त्रिष्टुब्जगत्यधिकारः ।

त्रिष्टुब्ज्योतिष्मतीलक्षणमाह—

एकेन त्रिष्टुब्ज्योतिष्मती ॥५०॥

त्रिष्टुभः प्रस्तुतत्वात्प्रत्यासत्तेश्च तस्या एव संबन्धः। एकेन त्रैष्टुभेन पादेनाधिकाराच्चतुर्भिर्गायत्रैः पञ्चपात् 'त्रिष्टुब्ज्योतिष्मती' नाम छन्दो भवति। त्रैष्टुभेन सह 'पञ्चभिर्गायत्रैः' (पि० सू० ३।४८) इत्युक्ते चत्वार एव गायत्राः पादा लभ्यन्ते। यथा 'उपाध्यायेन सह पञ्च शिष्या आगता' इत्युक्ते उपाध्याय ऊनाः प्रतीयन्ते ॥५०॥

जिस छन्द में ग्यारह अक्षर का एक पाद और आठ अक्षर के चार पाद हों, इस प्रकार के पाँच पाद का 'ज्योतिष्मती' नामक 'त्रिष्टुप्' छन्द होता है ॥ ५० ॥

जगतीज्योतिष्मतीलक्षणमाह—

तथा जगती ॥५१॥

एकेन जागतेन पादेन चतुर्भिर्गायत्रैः पादैः पञ्चपाज्जगती 'ज्योतिष्मती' नाम छन्दो भवति ॥५१॥

जिस छन्द में बारह अक्षर का एक पाद और आठ अक्षर के चार

---

१ त्रिष्टुभो निरुक्तिर्यथा दैवतब्राह्मणे—

'त्रिष्टुप् स्तोभ इत्युत्तरपदा।' (३।१४)

तथा च निरुक्ते (७।३)—

'त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा, का तु त्रिता स्यात् ? तीर्णतमं छन्दस्त्रिवृद्वज्रस्तस्य स्तोभतीति वा। यत् त्रिरस्तोभत्तत्त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते।'

२ जगत्या निर्वचनमित्थं निरुक्ते (७।३)—

'जगती गततमं छन्दः। जलचरगतिर्वा, जल्गल्यमानोऽसृजदिति च ब्राह्मणम्।'

पाद हों, इस प्रकार के पाँच पाद का 'ज्योतिष्मती' नामक 'जगती' छन्द होता है ॥ ५१ ॥

पुरस्ताज्ज्योतिषमाह —

पुरस्ताज्ज्योतिः प्रथमेन ॥५२॥

प्रथमेन त्रैष्टुभेन पादेन, शेषैश्च गायत्रैः पादैः 'पुरस्ताज्ज्योतिः' नाम त्रिष्टुब् भवति । यथा—

[1]'कृधी नो अह्रयो देव सवितः (१) स च स्तुषे मघोनाम् । सह्रो न इन्द्रो वह्निभि (३) न्र्येषां चर्षणीनां (४) चक्रं रश्मिं न योयुवे (५) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ४ व० २७ मं० ४)

पूर्वेणैव गतार्थत्वाद्विशेषसंज्ञापनार्थमिदम् । 'तथा जगती' इत्यनुवर्तनीयम् । तेनाद्येन जागतेन पादेन चतुर्भिश्च गायत्रैः 'पुरस्ताज्ज्योतिः' नाम जगती भवति । यथा—

'नमोवाके प्रस्थिते अध्वरे नरा (१) विवक्षणस्य पीतये (२) । आयातमश्विना गत (३) मवस्युर्वामहं हुवे (४) धत्तं रत्नानि दाशुषे (५) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ६ अ० ३ व० १७ मं० ५) ॥५२॥

जिस छन्द के प्रथम पाद में ग्यारह अक्षर और अवशिष्ट पादों में आठ अक्षर हों, उसका 'पुरस्तात् ज्योति' नामक 'त्रिष्टुप्' छन्द होता है । इसी प्रकार जिस छन्द के प्रथम पाद में बारह अक्षर और अवशिष्ट चार पाद में आठ अक्षर हों, उसको 'पुरस्तात् ज्योति' नामक 'जगती' छन्द कहते हैं ॥ ५२ ॥

मध्येज्योतिस्त्रिष्टुब्जगत्योर्लक्षणमाह —

मध्येज्योतिर्मध्यमेन ॥५३॥

---

१ द्वितीय-चतुर्थपादयोर्व्यूहेनाक्षरपूर्तिः ।

यदा मध्यमस्त्रैष्टुभः पादो भवति, उभयतश्च द्वौ द्वौ गायत्रौ, तदा 'मध्येज्योतिः' नाम त्रिष्टुब् भवति । मध्येज्योतिरित्यलुक्समासः । यथा—

'बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः (१) शुक्रेण देव शोचिषा (२) ।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य (३) रेवन्नः शुक्र दीदिहि (४)
द्युमत्पावक दोदिहि (५) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ४ अ० ८ व० २ मं० २)

'तथा जगती' इत्यनुवर्तनीयम् । तेन मध्यमेन जागतेन एकेन जागतेन मध्यमेन तृतीयेनोभयतश्च द्वौ द्वौ गायत्रौ, तदा 'मध्येज्योतिः' नाम जगती भवति । यथा—

'यन्मे नोक्तं तद्रवतां (१) शकेयं यदनुब्रुवे (२) ।
निशामतं निशामहै मयि व्रतं (३) सह व्रतेषु भूयासं (४)
ब्रह्मणा सङ्गमेमहि (५) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ८ व० ६ परि० मं० ४) ॥५३॥

जिस छन्द के पूर्व के दो पाद और अवशिष्ट दो पाद अठारह अक्षर के हों एवं मध्य का पाद ग्यारह अक्षर का हो उसका 'मध्ये ज्योति' नामक 'त्रिष्टुप्' छन्द होता है । इसी प्रकार जिस छन्द के आदि के दो पाद और अन्त का एक पाद अठारह अक्षर का एवं मध्य का पाद बारह अक्षर का हो उसका 'मध्ये ज्योति' नामक 'जगती' छन्द होता है ॥ ५३ ॥

उपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुब्जगत्योर्लक्षणमाह—

उपरिष्टाज्ज्योतिरन्त्येन ॥५४॥

यदा चत्वारो गायत्राः पादा भवन्ति, अन्ते च त्रैष्टुभः, तदा 'उपरिष्टाज्ज्योतिः' नाम त्रिष्टुब् भवति । यथा—

'संवेशिनीं संयमिनीं (१) ग्रहनक्षत्रमालिनीम् (२) ।
प्रपन्नोऽहं शिवां रात्रीं (३) भद्रे पारमशीमहि (४)

भद्रे पारमशीमंह्यों नमः (५) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ७ व० १४ मं० ५)

'तथा जगती' इत्यनुवर्तनीयम् । तेनान्तेन जागतेन पादेन शेषैश्च गायत्रैश्चतुर्भिः 'उपरिष्टाज्ज्योतिः' नाम जगती भवति । यथा—

'लोकं पृण छिद्रं पृण (१) । अथो सीद शिवात्वंम् (२) ।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिः (३) । अस्मिन् योनावसीषदन् (४) ।
तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवा सीदं[3] (५) ॥'

(यजुर्वेदे—तै० ब्रा० अ० ३ प्र० ११ अ० ६ मं० ३) ॥५४॥

जिस छन्द के पूर्व के चार पाद में आठ अक्षर और अन्त के पाद में ग्यारह अक्षर हों उसको 'उपरिष्टात् ज्योति' नामक 'त्रिष्टुप्' छन्द कहते हैं। इसी प्रकार जिस छन्द के पूर्व के चार पाद में आठ अक्षर और अवशिष्ट पाद में बारह अक्षर हों उसको 'उपरिष्टात् ज्योति' नामक 'जगती' छन्द कहते हैं ॥५४॥

इति त्रिष्टुब्जगत्यधिकारः ।

अथ गायत्र्यादीनां विशेषसंज्ञाधिकारः ।

गायत्र्यादिच्छन्दसां शङ्कुमतीसंज्ञकं भेदमाह—

एकस्मिन्पञ्चके छन्दः शङ्कुमती ॥५५॥

यदैकः पञ्चाक्षरः पादो भवति, त्रयश्च षडक्षराः, तदा 'शङ्कुमती' नाम गायत्री । यथा—

'तिस्रो देवीर्बर्हिः(१)रेदं सदन्त्विडा (२) सरस्वती भारती(३)।
मही गृणाना (४) ॥'

(य० तैत्तिरीयसंहिता—कां० ४ प्र० १ अ० ८ मं० ६)

---

१ 'हिय्यों' इति व्यूहेनाक्षरपूर्त्तिः ।

२ 'तु अ' इति व्यूहेनाक्षरपूर्त्तिः ।

३ अक्षराभिक्याद् भुरिक् । एवमेवोत्तरत्र समाधेयमिति ।

छन्दोग्रहणे प्रकृते पुनश्छन्दोग्रहणं छन्दोमात्रप्रतिपत्त्यर्थम् । तेन सर्वेषु छन्दःसु पञ्चाक्षरैकपादलक्षिता शङ्कुमती भवति । इतरथा ह्यनन्तरमेव सम्प्रत्ययः स्यात् ॥५५॥

जिस छन्द में पाँच अक्षर का एक पाद और छ अक्षर के तीन पाद हों उसका 'शङ्कुमती' नामक 'गायत्री' छन्द होता है । यहाँ पर 'छन्दः' शब्द का अधिकार प्रथमतः रहने पर भी पुनः 'छन्दः' शब्द का ग्रहण सामान्य छन्द–ग्रहण के लिये ही किया गया है । अतः समस्त छन्दों में पाँच अक्षर के एक पाद के सम्मिलित करने से वह 'शङ्कुमती' नामक छन्द हो जाता है ॥५५॥

सर्वच्छन्दसां ककुम्म(द्म)तीति विशेषसंज्ञामाह—

षट्के ककुम्म(द्म)ती ॥५६॥

एकस्मिन् षडक्षरे पादे, अन्येषु यथालक्षणमुपात्तेषु छन्दोमात्रं 'ककुम्म(द्म)ती' नाम भवति ॥५६॥

छ अक्षर के एक पाद के साथ छन्द को मिला देने से पूर्वोक्त सभी छन्दों की 'ककुम्म(द्म)ती' संज्ञा हो जाती है ॥५६॥

त्रिपादणिष्ठमध्या पिपीलिकमध्या[1] ॥५७॥

यदाद्यन्तौ पादौ बह्वक्षरौ, मध्यमोऽल्पतराक्षरः, तदाणिष्ठमध्या सती 'पिपीलिकमध्या' नाम भवति । अयमर्थः— आद्यन्तौ पादावष्टाक्षरौ, मध्यमस्त्र्यक्षरः, एवं त्रिपाद्गायत्री 'पिपीलिकमध्या' नाम भवति । एवं चतुरक्षरे पञ्चाक्षरेऽपि मध्यमे पादे पिपीलिकमध्या सिद्ध्यति । यत्किञ्चित्त्रिपाच्छन्दो लघुमध्यमपादं तत्सर्वं पिपीलिकमध्यमुच्यते ॥५७॥

जिस छन्द के आदि और अन्त के पाद बहुत अक्षरों से युक्त हों और मध्य का पाद स्वल्प अक्षर से युक्त हो, तो इस प्रकार की गायत्री

1 "पिपीलिकमध्येत्यौपमिकम् ।" (निरु० ७।३)

को 'पिपीलिकामध्या' कहते हैं। स्पष्टार्थ इस प्रकार है– जिस छन्द का प्रथम और अन्त का पाद आठ अक्षर का हो और मध्य का पाद तीन अक्षर का हो इस प्रकार की त्रिपाद् गायत्री को 'पिपीलिकामध्या' कहते हैं। इसी प्रकार जिस छन्द में मध्य का पाद चार और पाँच अक्षर का हो, तो उसकी भी 'पिपीलिकमध्या' संज्ञा होती है। इसी प्रकार जहाँ कहीं भी यदि त्रिपाद् छन्द के मध्य का पद लघु होगा, तो उसकी भी 'पिपीलिकामध्या' संज्ञा होगी ॥५७॥

विपरीता यवमध्या ॥५८॥

आद्यन्तौ पादौ लघ्वक्षरौ, मध्यमश्च बह्वक्षरः, सा गायत्री 'यवमध्या' नाम भवति। एवमुष्णिगादिष्वपि योज्यम् ॥५८॥

जिस छन्द के प्रथम और अन्त के पाद में अल्प अक्षर हों एवं मध्य के पाद में बहुत अक्षर हों उसको 'यवमध्या' कहते हैं। इसी प्रकार उष्णिक् आदि छन्दों का भी मध्य का पाद यदि बहुत अक्षरों से युक्त हो, तो उनकी 'यवमध्या' संज्ञा होती है ॥५८॥

गायत्र्यादिच्छन्दसामेकाक्षरन्यूनाधिकत्वे निचृत्-संज्ञां भुरिक्-संज्ञाञ्च दर्शयति—

ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ ॥५९॥

चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री एकेनाक्षरेण न्यूनेन सा 'निचृत्' इति विशेषसंज्ञां लभते। एकेनाधिकेन 'भुरिक्' इति। एवमुष्णिगादिष्वपि द्रष्टव्यम् ॥५९॥

चौबीस अक्षर की गायत्री में एक अक्षर कम हो अर्थात् तेईस अक्षर हों, तो उसकी 'निचृत्' संज्ञा होती है। और पूर्वोक्त गायत्री में यदि एक अक्षर अधिक हो जाय अर्थात् पचीस अक्षर हो जाने से उसकी 'भुरिक्' संज्ञा होती है। इसी प्रकार उष्णिक् प्रभृति छन्दों में भी समझना चाहिये ॥५९॥

सर्वच्छन्दसां ह्यक्षरन्यूनाधिकत्वे विशेषाभिधानाय सूत्रान्तरं दर्शयति—

द्वाभ्यां विराट्-स्वराजौ ॥६०॥

'ऊनाधिक'ग्रहणमनुवर्तते । द्वाभ्यामक्षराभ्यां न्यूनाधिकाभ्यां गायत्री यथाक्रमं विराट्-स्वराट्-संज्ञा भवति । एवमुष्णिगादिष्वपि द्रष्टव्यम् ॥६०॥

जिस गायत्री में दो अक्षर कम और दो अक्षर अधिक हो जाँय उसकी यथाक्रम से 'विराट्' और 'स्वराट्' संज्ञा होती है । इसी प्रकार उष्णिगादि छन्दों में भी समझना चाहिये ॥६०॥

पूर्वोक्तलक्षणच्छन्दसामक्षरन्यूनाधिक्येऽपि निचृदादिविशेषसंज्ञाविधानात् एकत्र लक्षणद्वयप्रवेशे किं नाम छन्द इति निरूपयन्नाह—

आदितः सन्दिग्धे ॥६१॥

यदा षड्विंशत्यक्षरं छन्दो भवति, तदा किं प्रतिपत्तव्यम् ? । किं गायत्री स्वराड् ? उतोष्णिग्विराड् ? इति । एवं सन्दिग्धे सति छन्दस्यादिभूतात् पादान्निर्णयः कर्त्तव्यः । यदि प्रथमः पादो गायत्र्यास्तदा गायत्र्येवासौ । अथोष्णिहस्तदोष्णिग् इति । एवं सर्वत्र ॥६१॥

छब्बीस अक्षर के छन्द में दो अक्षर अधिक कर देने से वह 'स्वराट्' छन्द होगा, इसी प्रकार पूर्वोक्त छन्द में दो अक्षर कम कर देने से वह 'विराट् उष्णिक्' छन्द होगा । अतः ऐसा सन्देह होने पर छन्द के पाद से छन्द का निर्णय करना चाहिये । यदि प्रथम पाद गायत्री का हो, तो उसे गायत्री ही समझना चाहिये । यदि उष्णिक् छन्द का प्रथम पाद हो, तो उसे उष्णिक् समझना चाहिये । इसी प्रकार अनुष्टुबादि में भी समझना चाहिये ॥६१॥

अपरमपि सन्दिग्धच्छन्दोनिरूपणोपायं दर्शयितुमाह—

दैवतादितश्च ॥६२॥

---

१ देवता मन्त्रान्तर्भूता अग्न्यादिकाः । तथा च याज्ञवल्क्यः—

इदमपरं निर्णयनिमित्तमुच्यते। सन्दिग्धे छन्दसि देवतादेश्च निर्णयः कर्तव्यः। 'आदि'ग्रहणं स्वरादिपरिग्रहार्थम् ॥६२॥

सन्दिग्ध छन्दों में देवता आदि से निर्णय करना चाहिये। ('देवतादितश्च' इस सूत्र में 'आदि' शब्द से स्वरादि का ग्रहण करना चाहिये ॥६२॥

गायत्र्यादिसप्तच्छन्दसां देवतानिरूपणमाह—

अग्निः सविता सोमो बृहस्पतिर्मित्रावरुणाविन्द्रो विश्वेदेवा देवताः ॥६३॥

गायत्र्यादीनां जगतीपर्यन्तानां यथाक्रममग्न्यादयो देवता वेदितव्याः। तत्र सन्दिग्धे छन्दसि यदाग्नेयं, तदा गायत्री। यदि सावित्रं, तदोष्णिग्। एवं सर्वत्र। वैदिकेष्वेव छन्दःसु निचृद्भुरिजौ, तथा विराट्स्वराजौ च दृश्येते; न लौकिकेषु। अतो लौकिकेषु सन्देहाभावात्तन्निर्णयनिमित्तभूता देवतादयो नेष्यन्ते ॥६३॥

पूर्वोक्त गायत्री प्रभृति (गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती) सात प्रकार के छन्दों के यथाक्रम से 'अग्नि' प्रभृति (अग्नि, सविता, सोम, बृहस्पति, मित्रावरुण, इन्द्र और विश्वेदेवा) सात देवता समझने चाहिएँ।

"यस्य यस्य च मन्त्रस्य उद्दिष्टा या च देवता।
तदाधारं भवेत्तस्य दैवतं देवतोच्यते ॥"

तथा च निरुक्ते—

'अथातो दैवतम्। तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते। सैषा देवतोपपरीक्षा। यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।' (७।१)

'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता।' (नि० ७।१५)

(सन्दिग्ध स्थलों में जहाँ जिस देवता के नाम का निर्देश हो वहाँ उसके अनुसार छन्द का निर्णय करना चाहिये । जैसे—'अग्नि' देवता का निर्देश करने से गायत्री का, 'सविता' देवता का निर्देश करने से उष्णिक् का ग्रहण करना चाहिये । इसी प्रकार अनुष्टुबादि में भी समझना चाहिये । वैदिक छन्दों में ही 'निचृद्',–'भुरिक्', एव 'विराट्'-'स्वराट्', भेद देखे जाते हैं अन्यत्र लौकिक छन्दों में ऐसा नहीं है)॥६३॥

गायत्र्यादिसप्तच्छन्दसां सप्तस्वरोच्चार्य्यत्वेन सन्दिग्धच्छन्दोनिर्णये स्वरस्यापि हेतुतां दर्शयति—

स्वराः षड्जादयः ॥६४॥

षड्जर्षभगान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-निषादाः स्वरा गायत्र्यादिषु क्रमेण द्रष्टव्याः ॥६४॥

गायत्री प्रभृति सात प्रकार के छन्दों के स्वर भी सात प्रकार के हैं । यथा—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद ॥६४॥

गायत्र्यादिच्छन्दसां वर्णनिर्णयमाह—

सितसारङ्गपिशङ्गकृष्णनीललोहितगौरा वर्णाः ॥६५॥

गायत्र्यादिषु क्रमेण वर्णा वर्णनिर्णयनिमित्तमभिधीयन्ते॥६५॥

गायत्री प्रभृति सात छन्दों के वर्ण भी सात प्रकार के हैं । यथा—सित, सारङ्ग, पिशङ्ग, कृष्ण, नील, लोहित और गौर ॥६५॥

गायत्र्यादिच्छन्दसां गोत्रनिर्णयमाह—

आग्निवेश्यकाश्यपगौतमाङ्गिरसभार्गवकौशिकवासिष्ठानि गोत्राणि ॥६६॥

गायत्र्यादीनां क्रमेणैतानि गोत्राणि भवन्तीति वाक्यशेषः ।

अत्र 'रोचनाभाः कृतयः, श्यामान्यतिच्छन्दांसि', इत्येवमादिक्रमवधीयते छान्दसाः । तन्नोपपद्यते । कृतीनामतिच्छन्दसां च निचृद्भुरिजोर्विराट्स्वराजोश्च प्रदेशाभावात् कश्चिन्नास्ति संशयः, यस्य निर्णयनिमित्तं वर्णोपन्यासः क्रियते, तदपि

ऋषिदेवतास्वरवर्णानां ज्ञानाग्निःश्रेयसमिच्छन्ति छान्दसाः॥६६॥

इति भट्टहलायुधकृतायां छन्दोवृत्तौ तृतीयोऽध्यायः।

गायत्री प्रभृति सात प्रकार के छन्दों के गोत्र भी सात प्रकार के हैं। यथा—आग्निवेश्य, काश्यप, गौतम, आङ्गिरस, भार्गव, कौशिक, और वाशिष्ठ ॥ ६६ ॥

इति श्रीमद्वेणीरामशर्मकृवार्यां प्रेमानुभूतौ तृतीयोऽध्यायः।

—❀—

* चतुर्थोऽध्यायः *

उत्कृतिलक्षणमाह—

चतुःशतमुत्कृतिः ॥१॥

चतुरधिकं शतं चतुःशतम्। मध्यमपदलोपी समासः। अथवा चत्वारि च शतं च चतुःशतम्। द्वन्द्वसमासः। कर्मधारयस्तु नेष्यते। तत्र चतुःशतानीति प्राप्नोति। यत्र चतुःशतमक्षराणां संख्या भवति, तत् 'उत्कृतिः'[1] नाम छन्दः। यथा—

'छागस्य हविष आत्तामद्य (१) मध्यतो मेद उद्भृतं (२) पुरा द्वेषोभ्यः (३) पुरा पौरुषेय्या गृभो (४) घस्तां नूनं (५) घासे अज्राणां यवसप्रथमानाꣳ (६) सुमत्क्षराणाꣳ शतरुद्रियाणाम् (७) अग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां (८) पार्श्वतः श्रोणितः (९) शितामतः उत्सादतः (१०) अङ्गादङ्गादवत्तानां (११) करत एवाश्विना (१२) जुषेताꣳ हविः (१३) ॥'

(शुक्लयजुर्वेदे-अ० २१ मं० ४३) ॥१॥

जिस छन्द में एक सौ चार अक्षर हों उसको 'उत्कृति' छन्द कहते हैं ॥१॥

१ उत्कृत्यादिकृतिपर्यन्तानामुदाहरणानि हलायुधभट्टेन न दर्शितानि, अतस्तानि सर्वानुक्रमणिकाभाष्योपलब्धानि, अन्यत्रापि च सुप्रसिद्धानि छात्राणामुपकाराय वृत्तिमध्येऽस्माभिः सन्निवेशितानीति।

वक्ष्यमाणलक्षणानामभिकृत्यादीनां छन्दसां लक्षणसिद्ध्यर्थमाह—

चतुरश्चतुरस्त्यजेदुत्कृतेः ॥२॥

चतुःशतादुत्तराच्छन्दसः क्रमेण चतुरश्चतुरः संख्याविशेषांस्त्यजेत् । एतदुक्तं भवति– उत्कृतेरारभ्य चतुर्भिश्चतुर्भिरक्षरैर्न्यूनानि छन्दांस्यन्यानि स्थापयेत्, अष्टाचत्वारिंशदक्षरं यावत् ॥२॥

उत्कृति से लेकर चार–चार अक्षर को न्यून करते हुए दूसरे छन्दों को अड़तालीस अक्षर तक रखना चाहिये ॥ २ ॥

अभिकृत्यादिसंज्ञिकां पञ्चविधां कृतिं दर्शयति—

तान्यभिसंव्याप्रेभ्यः कृतिः ॥३॥

तान्युत्कृतेरनन्तराणि छन्दांसि अभि-सं-वि-आङ्-प्र इत्येतेभ्यः पराणि 'कृति'संज्ञानि भवन्ति । तत्र शताक्षरं छन्दः 'अभिकृतिः' । यथा—

'देवो अग्निः स्विष्टकृत् (१) । देवान्यक्षद्यथायथम् (२) । होताराविन्द्रमश्विना (३) । वाचा वाचँ सरस्वतीम् (४) । अग्निँ सोमँ स्विष्टकृत् (५) । स्विष्ट इन्द्रः सुत्रामा (६) । सविता वरुणो भिषक् (७) । इष्टो देवो वनस्पतिः (८) । स्विष्टा देवा आज्यपाः (९) । इष्टो अग्निरग्निना (१०) होता होत्रे स्विष्टकृत् (११) । यशो न दधदिन्द्रियम् (१२) । ऊर्जमपचितिं स्वधाम् (१३) ॥'

(तैत्तिरीयब्राह्मणे-अ० २ प्र० ६ अ० १४ मं० ११)

षण्णवत्यक्षरं संकृतिः । यथा—

'देवो अग्निः स्विष्टकृत् (१) । सुद्रविणा मन्द्रः कविः (२) । सत्यमन्मा यजी होता (३) । होतुर्होतुरायजी यान् (४) अग्ने यान् देवानयाट् (५) । याँ अपि प्रेः (६) । येते होत्रे अमत्सत (७) । ताँ ससनुषीँ होत्रां देवंगमां (८) । दिवि देवेषु

यज्ञमेरयेमम् (९)। स्विष्ट कृच्चाग्ने होताभूः (१०)। वसुवने वसुधेयस्य नमो वाके वीहि (११)॥'

(तैत्तिरीयब्राह्मणे—अ० ३ अ० ६ अ० १४ मं० १)

द्वानवत्यक्षरं विकृतिः। यथा—

'इमे सोमाः सुरामाणः (१)। छागैर्न मेषैर्ऋषभैः सुताः (२)। शष्पैर्न तोक्मभिः (३)। लाजैर्महस्वन्तः (४)। मदा मासरेण परिष्कृताः (५)। शुक्राः पयस्वन्तोऽमृताः (६)। प्रस्थिता वो मधुश्चुतः (७)। तानश्विना सरस्वती (८) न्द्रः सुत्रामा वृत्रहा (९)। जुषन्ताँ सोम्यं मधु (१०) पिबन्तु मदन्तु वियन्तु सोमम् (११)॥'

(तैत्तिरीयब्राह्मणे-अ० २ प्र० ६ अ० ११)

अष्टाशीत्यक्षरमाकृतिः। यथा—

'तच्चक्षुर्देवहितं (१) पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् (२)। पश्येम शरदः शतं (३) जीवेम शरदः शतं (४) नन्दाम शरदः शतं (५) मोदाम शरदः शतं (६) भवाम शरदः शतँ (७) शृणवाम शरदः शतं (८) प्रब्रवाम शरदः शत (९) मजीताः स्याम शरदः शतं (१०) ज्योकच सूर्यं दृशे॥'

(तैत्तिरीयारण्यके—प्र० ४ अ० ४२ मं० २२)

चतुरशीत्यक्षरं प्रकृतिः। यथा—

'अग्निश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः (१)। पापेभ्यो रक्षन्ताम् (२)। यदह्ना पापमकार्षम् (३)। मनसा वाचा हस्ताभ्याम् (४)। पद्भ्यामुदरेण शिश्ना (५)। अहस्तदवलुम्पतु (६)। यत्किञ्च दुरितं मयि (७)। इदमहं माममृतयोनौ (८)। सत्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा (९)॥'

(तै० आ० प्र० १० अ० २४) ॥३॥

प्रकृति के अनन्तर अर्थात् 'कृति' शब्द के पूर्व में अभि, सम्, वि,

आङ् और प्र इनको यथाक्रम मिला देने से परवर्त्ती पाँच शब्दों (अभिकृति, संकृति, विकृति, आकृति, प्रकृति) की 'कृति' संज्ञा होती है । अर्थात् एक सौ अक्षर के छन्द का नाम 'अभिकृति' छियानबे अक्षर के छन्द का नाम संकृति, बयानबे अक्षर के छन्द का नाम 'विकृति' अठासी अक्षर के छन्द का नाम 'आकृति' और चौरासी अक्षर के छन्द का नाम 'प्रकृति' होता है ॥३॥

उदाद्युपसर्गविवर्जितां शुद्धकृतिं दर्शयति—

प्रकृत्या चोपसर्गवर्जितः ॥४॥

उपसर्गेण वर्जितः शुद्धः कृतिशब्दः प्रकृत्या स्वरूपेणैवाव-तिष्ठते । तेनैतदुक्तं भवति-अशीत्यक्षरं छन्दः 'कृतिः' नाम । यथा—

'देव इन्द्रो नराशꣳस (१) स्त्रिवरूथस्त्रिवन्धुरो (२) देव-मिन्द्रमवर्धयत् (३) । शतेन शितिपृष्ठानामाहितः (४) सहस्रेण प्रवर्तते (५) मित्रावरुणेदस्य होत्रमर्हतो (६) बृहस्पतिः स्तोत्र (७) मश्विनाध्वर्यवं (८) वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज (९) ॥'

(शुक्लयजुर्वेदे—अ० २८ मं० १९) ॥४॥

उपसर्ग से रहित केवल 'कृति' शब्द की स्वाभाविक रूप में ही स्थिति रहेगी । स्पष्टार्थ यह है कि—अस्सी अक्षर के छन्द को 'कृति' कहते हैं ॥४॥

अतिधृत्याद्यष्टविधवैदिकच्छन्दोनिर्णयपुरस्सरं वैदिकच्छन्दांस्युपहरति-धृती-त्यादिसूत्रत्रयैः—

धृत्यष्टिशक्करीजगत्यः ॥५॥

कृतेरधस्ताद्धृतिरष्टिः शक्करी जगतीत्येते शब्दाः क्रमेण व्यवस्थापनीयाः ॥५॥

'कृति' के नीचे अर्थात् 'कृति' के अनन्तर धृति, अष्टि, शक्वरी और जगती इन शब्दों को यथाक्रम से व्यवस्थित करना चाहिये ॥५॥

अतिधृत्यादिसंज्ञाविधानार्थं सूत्रमवतारयति —

पृथक्पृथक्पूर्वत एतान्येवैषाम् ॥६॥

एषां धृत्यादीनां पूर्वतः पृथक्पृथगेतान्येव शब्दरूपाणि विन्यसेत्। पृथक्पृथग्ग्रहणं प्रत्येकं पूर्वत्वज्ञापनार्थम्। अन्यथा हि समुदायपूर्वत्वमेषां स्यात्। तेनायमर्थः—धृतिशब्दात् पूर्वं धृतिशब्दः, अष्टिशब्दात्पूर्वमष्टिशब्दः, शक्करीशब्दात्पूर्वं शक्करीशब्दः, जगतीशब्दात् पूर्वं जगतीशब्दः ॥ ६ ॥

पूर्वोक्त 'धृति' प्रभृति शब्द के पूर्व अलग अलग ही 'धृति' प्रभृति शब्दों का विनियोग करना चाहिये। जैसे—धृति शब्द के पूर्व में 'धृति' शब्द, अष्टि शब्द के पूर्व में 'अष्टि' शब्द, शक्वरी शब्द के पूर्व में 'शक्वरी' शब्द और जगती शब्द के पूर्व में 'जगती' शब्द ॥६॥

ततः किं विधेयमित्यपेक्षायामाह—

द्वितीयं द्वितीयमतितः ॥७॥

अत्र द्वितीयं द्वितीयं शब्दरूपमतिशब्दात्परतः प्रयोक्तव्यम्। एवं सत्युत्तरेषां छन्दसामेताः संज्ञाः क्रमेण भवन्ति। तत्र षट्सप्तत्यक्षरा अतिधृतिः। यथा--

'स हि शर्धो न मारुतं तुविष्वणि (१) रप्नस्वतीषूर्वरास्विष्टनि (२) रार्तनास्विष्टनिः (३)। आदद्धव्यान्याददि (४) र्यज्ञस्य केतुरर्हणा (५)। अध स्मास्य हर्षतो हृषीवतो (६) विश्वे जुषन्त पन्थां (७) नरः शुभेन पन्थाम् (८) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० २ अ० १ व० १३ मं० १)

द्वासप्तत्यक्षरा धृतिः। यथा—

'अवर्मह इन्द्र दादृहि श्रुधी नः (१) शुशोच हि द्यौः क्षा न भीषाँ अद्रिवो (२) घृणान्न भीषाँ अद्रिवः (३)। शुष्मिन्तमो हि शुष्मिभि (४) र्वधैरुग्रेभिरीयसे (५)। अपूरुषघ्नो अप्रतीत

१ एषु व्यूहान्न्यूनता परिहार्या।

शूर सत्त्वभि (५) स्त्रिसप्तैः शूरसत्त्वभिः (७) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० २ अ० १ व० २२ मं० ६)

अष्टषष्ट्यक्षरा अत्यष्टिः । यथा--

'अदर्शि गातुरुरवे वरीयसी (१) पन्था ऋतस्य समयंस्त रश्मिभि (२) श्चक्षुर्भगस्य रश्मिभिः (३) । द्युक्षं मित्रस्य सादन (४) मर्यम्णो वरुणस्य च (५) । अथादधाते बृहदुक्थ्यं वय (६) उपस्तुत्यं बृहद्वयः (७) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० २ अ० १ व० २६ मं० २)

चतुःषष्ट्यक्षरा अष्टिः । यथा—

'त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं (१) तुविशुष्मस्तृपत्सोम-मपिब (२) द्विष्णुना सुतं यथावशत् (३) । स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं (४) सैनं सश्चद्देवो देवं (५) सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः (६) ॥' (ऋग्वेदे-अ० २ अ० ६ व० २८ मं० १)

षष्ट्यक्षरा अतिशक्करी । यथा—

'साकं जातः क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ (१) साकं वृद्धो वीर्यैः सासहिर्मृधो विचर्षणिः (२) । दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु (३) सैनं सश्चद्देवो देवं (४) सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः (५) ॥' (ऋग्वेदे-अ० २ अ० ६ व० २८ मं० ३)

षट्पञ्चाशदक्षरा शक्करी । यथा—

'प्रो ष्वस्मै पुरोरथ (१) मिन्द्राय शूषमर्चत (२) । अभीके चिदु लोककृत् (३) सङ्गे समत्सु वृत्रहा (४) ऽस्माकं बोधि चोदिता (५) नभन्तामन्यकेषाम् (६) ज्याका अधिधन्वसु (७) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ७ व० २१ मं० १)

द्विपञ्चाशदक्षरा अतिजगती । यथा—

'स भ्रातरं वरुणमग्न आववृत्स्व (१) देवाँ अच्छा सुमती

१, -२, -३, एषु व्यूहान्न्यूनता परिहार्या ।

यज्ञवनसं (२) ज्येष्ठं यज्ञवनसम् (३) । ऋतावानमादित्यं चर्षणीधृतं (४) राजानं चर्षणीधृतम् (५) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ३ अ० ४ व० १२ मं० २)

अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती । यथा —

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमूतये(१)मारुतं शर्धो अदितिं हवामहे(२) । रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो (३) विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन (४) ॥' (ऋग्वेदे-अ० १ अ० ७ व० २४ मं० १) ॥७॥

इति भट्टहलायुधकृतायां छन्दोवृत्तौ चतुर्थाध्याये
वैदिकच्छन्दःप्रकरणं समाप्तम् ।

यहाँ पर द्वितीय 'धृति' प्रभृति शब्द अर्थात् छठवें सूत्र द्वारा पूर्व कथित 'धृति' प्रभृति शब्दों का 'अति' शब्द के आगे प्रयोग करना चाहिये । इस प्रकार से द्वितीय, पञ्चम, षष्ठ और सप्तम सूत्र द्वारा क्रमिक संज्ञाओं का निर्देश हुआ । जैसे—छियत्तर अक्षर के छन्द का नाम 'अतिधृति', बहत्तर अक्षर के छन्द का नाम 'धृति', अड़सठ अक्षर के छन्द का नाम 'अत्यष्टि', चौंसठ अक्षर के छन्द का नाम 'अष्टि', साठ अक्षर के छन्द का नाम 'अतिशक्वरी', छप्पन अक्षर के छन्द का नाम 'शक्वरी', बावन अक्षर के छन्द का नाम 'अतिजगती' और अड़तालीस अक्षर के छन्द का नाम 'जगती' होता है ॥७॥

इति श्रीमद्वेणीरामशर्मकृतायां प्रेमानुभूतौ चतुर्थाध्याये
वैदिकच्छन्दःप्रकरणं समाप्तम् ।

निधि-निधि-निधि-भूभिः सम्मिते वैक्रमेऽब्दे
शशिसकलकलायां मार्गशीर्षस्य, पूर्णा ।
मदयतु विबुधानां चित्तमाचन्द्रतारं
कलयतु नवभावा भावमन्वेषकाणाम् ॥१॥

प्रेमानुभूति-टीका तु वेणीरामेण शर्मणा ।
समापिता, स भगवान् तुष्यत्वेतेन कर्मणा ॥२॥